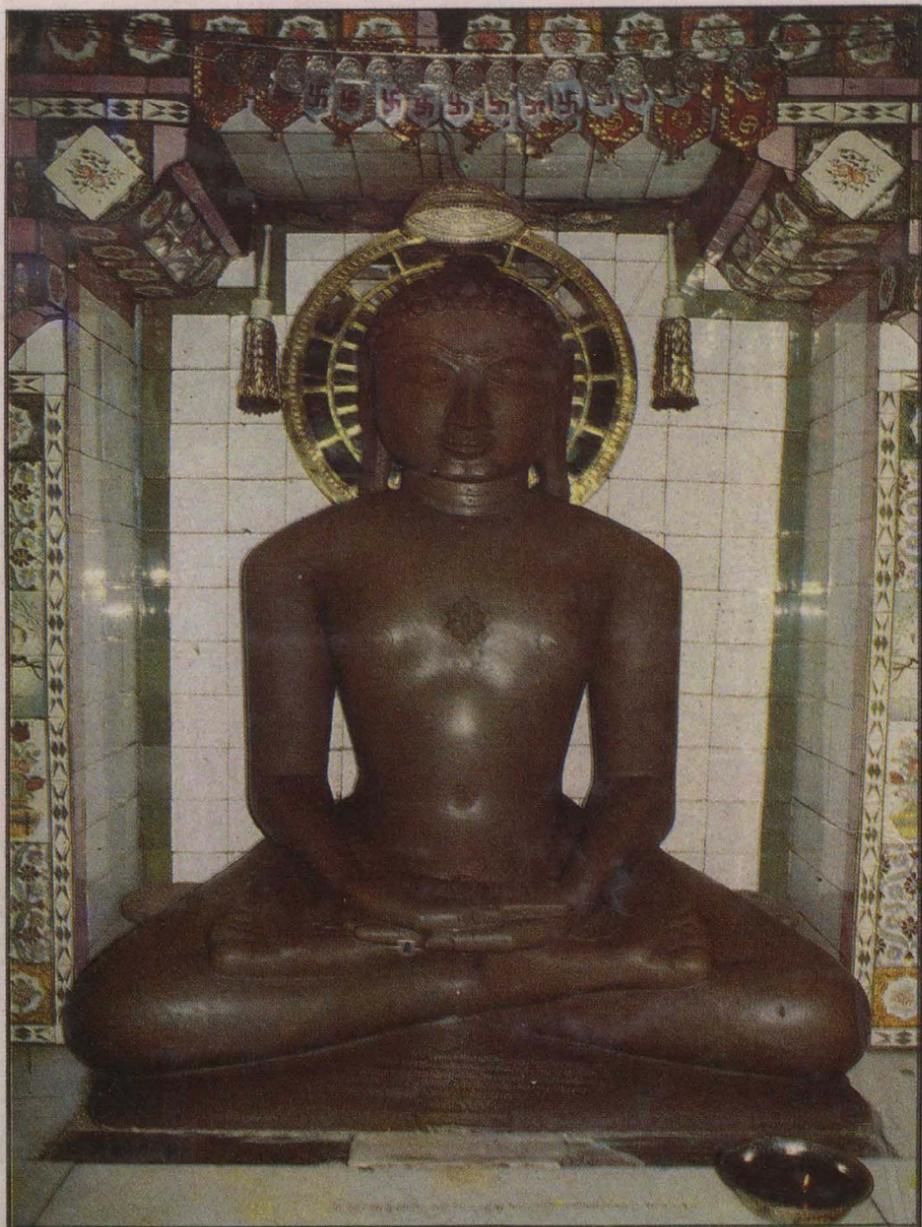


जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप

(एक समीक्षात्मक अध्ययन)



卐 श्री ऋषभ देवाय नमः 卐

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र चांद खेड़ी

लेखिका :

डॉ० सीमा रानी शर्मा

卐 श्री महावीराय नमः 卐
जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप
(एक समीक्षात्मक अध्ययन)

लेखिका :

डॉ. सीमा रानी शर्मा
एम. ए. (संस्कृत) पी-एच. डी.
बिजनौर, उ. प्र.

प्रकाशक :

पीयूष भारती (जैन मन्दिर के पास) बिजनौर, उ. प्र.

प्रकाशक :

पीयूष भारती, जैन मन्दिर के पास,
बिजनौर, उ. प्र.

प्राप्ति स्थान :

प्रकाशक एवं श्रीमती मनोरमा शर्मा (बन्दूक वाले)
स्टेट बैंक कॉलोनी रोड, बी-१४ नई बस्ती,
बिजनौर, उ. प्र., पिन-२४६७०१

प्रथम संस्करण :

वीर निर्वाण सम्बत् २५१८

सन् १९६२ ई.

विक्रम सम्बत् २०४६

मूल्य :

१५० रुपये

मुद्रक :

बैशाली प्रेस, बिजनौर, उ. प्र.

समर्पण

पूज्य पिता

(श्री अवधेश नारायण शर्मा)

की

पावन स्मृति

में

स्नेहमयी माँ

(श्रीमति मनोरमा शर्मा)

के

कर कमलों

में

श्रद्धा

एवं

विनय के

साथ

यह

रचना प्रसून

सादर समर्पित ।

-कु० सीमारानी शर्मा

स्व० अवधेश नारायण शर्मा



श्रीमति मनोरमा शर्मा



आद्य मिताक्षर

डॉ. रमेशचन्द्र जैन

अध्यक्ष-संस्कृत विभाग

वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर, उ. प्र.

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। वर्तमान अवसर्पिणी काल में इसके प्रणेता आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव माने गये हैं। हिन्दू पुराणकारों ने उनका गौरव के साथ उल्लेख किया है। वे योगमार्ग के प्रवर्तक स्वीकार किए गए हैं। श्रीमद् भागवत में कहा गया है—

“भगवान् ऋषभदेव ने योगियों के करने योग्य आचरण दिखलाने के लिए ही अनेक योगचर्याओं का आचरण किया, क्योंकि वह स्वयं भगवान्, मोक्ष के स्वामी एवं परम महत् थे। उनको बिना चाहे आकाश में उड़ना, मन के समान सर्वत्र गति, अस्तर्धान, परकाय प्रवेश और दूरदर्शन आदि सिद्धियाँ प्राप्त थीं, किन्तु उनको उनकी कुछ चाह नहीं थी। इस तरह भगवान् ऋषभदेव लोकपाल शिरोमणि होकर भी सब ऐश्वर्यों को तृणतुल्य त्याग कर अकेले अवधूतों की भाँति आचरण कर विचरने लगे। देखने में वह एक सिड़ी जान पड़ते थे, सिवा ज्ञानियों के मूढ़जन उनके प्रभाव और ऐश्वर्य का अनुभव नहीं कर सकते थे। यद्यपि वे जीवन्मुक्त थे, तो भी योगियों को किस प्रकार शरीर त्याग करना चाहिये, इसकी शिक्षा देने के लिए उन्होंने अपना स्थूल शरीर त्यागने की इच्छा की। जैसे कुम्भकार का चाक घुमाकर छोड़ देने पर थोड़ी देर तक स्वयं ही घूमता रहता है, उसी प्रकार लिङ्ग शरीर त्याग देने पर भी योग माया की वासना द्वारा भगवान्, ऋषभ का स्थूल शरीर संस्कार वश भ्रमण करता हुआ कोंक, बेंक, कुटक और दक्षिण कर्नाटक देशों में यद्ब्रह्मा पूर्वक प्राप्त हुआ। जहाँ कुटकाचल के उपवन में सीड़ियों की तरह बड़ी जटा छिटकाये नंगधड़ंग ऋषभदेव जी

विचरण करने लगे । सब वन में अकस्मात् वायु के वेग से बाँस हिलने लगे । परस्पर बाँसों की रगड़ से दावानल प्रकट हुआ देखते-ही देखते क्षण भर में वह दावानल सब जगह फैल गया । उसी अग्नि में ऋषभदेव का स्थूल शरीर भस्म हो गया ।”

भगवान् ऋषभदेव की परम्परा के जैन तीर्थंकरों की सब प्रतिमाये ध्यानस्थ मुद्रा में प्राप्त होती है । जैन परम्परा में योग के स्थान पर ध्यान शब्द का प्रयोग बहुलता से किया गया है । यहाँ योग शब्द मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । परवर्ती साहित्य में ध्यान के अर्थ में भी योग का प्रयोग मिलता है ।

सिंधु घाटी की खुदाई में योगी की मूर्ति प्राप्त हुई है, इसे श्री रामप्रसाद चन्दा ने ऋषभदेव की मूर्ति होने की सम्भावना व्यक्त की थी । बिहार में पटना के पास लोहानीपुर से जो जैन मूर्ति मिली है, वह सिंधु घाटी की खुदाई में प्राप्त योगी की मूर्ति से मिलती-जुलती है । यह मूर्ति मौर्यकालीन है । ऋषभदेव के पुत्र भरत, जिनके नाम से यह देश भारतदर्भ कहा जाता है, घोर साधक थे । उनका वर्णन भी पुराणों में एक अवधूत साधक के रूप में है । अवधूत शब्द के साथ प्राचीन वाङ्मय में जो भाव जुड़ा है, उसमें भोग-वासना के प्रकम्पन की दृष्टि प्रमुख है । जिसने तपोमय जीवन द्वारा एषणाओं को झकझोर दिया, वह अवधूत है । भागवत में ऋषभदेव का एक अवधूत साधक के रूप में चित्रण है । १

जैन परम्परा में ध्यान साधना तप का एक भेद है । प्रायः प्रत्येक तप का ध्यान से सम्बन्ध है । धर्मध्यान का वर्णन तो किसी न किसी रूप में अन्य परम्पराओं में भी प्राप्त है, किन्तु शुक्लध्यान का जैसा वर्णन जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । शुक्ल ध्यान के विविध सोपानों का वर्णन जैनों की अपनी निजी सम्पत्ति है । अन्य स्थानों पर जहाँ सद्ध्यान का ही वर्णन है, वहाँ जैन परम्परा की यह भी विशेषता है कि यहाँ आर्त्त और रौद्र नामक छोटे ध्यानों का भी सविस्तार वर्णन है । आर्त्त, रौद्र, धर्म

और शुक्ल ध्यान, इन ध्यान के भेदों का वर्णन करते हुए तत्त्वार्थ सूत्रकार ने 'परे मोक्ष हेतु' कहकर धर्म और शुक्ल ध्यान को मोक्ष का हेतु कहा है। इनमें शुक्ल ध्यान साक्षात् हेतु है, क्योंकि मोक्ष-गामी पुरुषों के जीवन प्रसङ्ग में प्रायः कहा जाता है कि अन्त में योगों का निरोध कर क्षपक श्रेणी पर अरोहण कर वे शुक्ल ध्यान से मुक्त हुए। इस प्रकार ध्यान मोक्ष की कुञ्जी है, यह जीवन का अनुभूत प्रयोग है। आज ध्यान की विविध प्रकार की पद्धतियाँ लुप्त हो गई हैं, इन्हें जाग्रत करने की पुनः आवश्यकता है।

वर्तमान समय में ध्यान अथवा योग पर पाश्चात्य जगत् का भी ध्यान गया है। वहाँ योग और उसकी शैलियाँ अधिक लोकप्रिय हो रही हैं। आज के भटकते हुए मानव को यदि कोई त्राण दे सकता है, तो सद्‌ध्यान ही दे सकता है। इसके लिये आवश्यकता है सम्यक् पुरुषार्थ की। ध्यान की लोक-प्रियता को देखते हुए नित्य प्रति नई नई पुस्तकें आ रही हैं। स्थानक वासी आचार्य तुलसी और उनके शिष्यों ने प्रेक्षाध्यान पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। शोध की दृष्टि से कुछ पुस्तकें प्रकाश में आई हैं, किन्तु अभी भी बहुत कुछ करना शेष है। इस दिशा में कु० डा० सीमा रानी शर्मा ने 'जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन' नामक पुस्तक लिख कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह उनका पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध है, जो रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली से स्वीकृत हुआ है। विश्व-विद्यालय द्वारा निर्धारित समय में वे बड़े मनोयोग पूर्वक कार्य में संलग्न रहीं और उन्होंने बड़े संतुलित ढंग से समीक्षात्मक दृष्टि अपनाते हुए अपना कार्य अच्छे रूप में सम्पन्न किया। इसकी गुणवत्ता को देखते हुए पी-एच० डी० की मौखिकी के बाह्य परीक्षक डा० करुणेश शुक्ल, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय ने कहा था-यदि यह ग्रन्थ प्रकाशित हो तो इसकी एक प्रति मेरे पास अवश्य भिजवाना। छात्रा के भ्रम और डा० शुक्ला के प्रोत्साहन को देखते हुए मेरी यह

(६)

भावना थी कि यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो । मुझे प्रसन्नता है कि मैं अपनी भावना को मूर्त रूप में देख रहा हूँ । डा० सीमा रानी शर्मा को उनकी कर्त्तव्य परायणता और लेखन हेतु शुभाशीर्वाद ।

१/६/१९६२ ई०

• — •

प्राक्कथन

वर्तमान युग में जहाँ विज्ञान ने भौतिक समृद्धि के नये-नये आयाम स्थापित किये हैं वहाँ मानसिक तनाव व आकुलता को भी अनजाने में ही नवजीवन दे डाला है। भौतिक सुखों से उत्पन्न मानसिक अशान्ति के निराकरण के लिए पाश्चात्य जैसे विकसित कहे जानेवाले देश भी आज भारतीय संतों एवं महात्माओं की योग एवं ध्यान की शिक्षा के लिए लालायित रहते हैं। भारतीय योग की परम्पराओं में वैदिक, बौद्ध एवं जैन धर्म प्राचीन माने जाते हैं, जिन के साहित्य में ध्यान पर विशद् रूप से प्रकाश डाला गया है। जैन धर्म एक अध्यात्म प्रधान धर्म है। इसमें जो कुछ भी वर्णन किया गया है वह आत्मा के उत्थान को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है। प्रत्येक प्राणी सुख तो चाहता है, पर वह यह नहीं जानता कि सुख स्वालम्बन के बिना असम्भव है। परालम्बन से प्राप्त सुख तो मात्र दिखावा है, वह सुख स्थायी नहीं होता। सच्चा सुख तो कर्मों के क्षय होने पर आत्मसिद्धि के द्वारा प्राप्त होता है। आत्मसिद्धि के लिए जैन धर्म ने ही नहीं अपितु सभी आस्तिकतावादी सम्प्रदायों ने 'ध्यान' को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

'ध्यान' शब्द की शास्त्र तारों ने अनेक व्युत्पत्तियाँ की हैं। तत्त्वा-नुशासन में कहा गया है:-

'ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।

यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥' (तत्त्वानुशासन ६८)

जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है अथवा जो ध्यान करता है वही ध्यान है, जिसमें ध्यान किया जाता है वही ध्यान है अथवा ध्यातिका [ध्येय वस्तु में परम स्थिर बुद्धि का नाम भी] ध्यान है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है कि एकाग्र चिन्ता के निरोध का नाम ध्यान है। एक प्रधान को और अग्र आलम्बन को तथा मुख को कहते हैं चिन्ता नाम स्मृतिका है और निरोध उस चिन्ता का उसी एकाग्र विषय में वर्तन का नाम है। द्रव्य और पर्याय के मध्य में प्रधानता से जिसे विवक्षित किया जाये उसमें चिन्ता का जो

निरोध है उसे अन्यत्र न जाने देना ध्यान है । परिस्पन्द से रहित जो एकाग्र चिन्ता का निरोध है-एक अवलम्बन रूप विषय में चिन्ता का स्थिर करना है उसका नाम ध्यान है और वह निर्जरा (संचित कर्मों का आंशिक क्षय) और संवर(नये कर्म के आने के निरोध का कारण) का कारण है ।

ध्यान के योग और समाधि दो नाम सुप्रसिद्ध हैं । जिनसेन आचार्य के महापुराण में इनके साथ धीरोध, स्वान्त निग्रह और अंतःसंलीनता को ही ध्यान के पर्यायवाची नाम बतलाये गये हैं। प्रसंख्यान नाम मुख्यतः योग दर्शन का है । 'प्र' और 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'ख्या' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय होकर इस शब्द की व्युत्पत्ति हुई है । 'ख्या' धातु गणना तत्त्वज्ञान और ध्यान जैसे अर्थों में व्यवहृत होती है । यहाँ प्रसंख्यान से अभिप्राय तत्त्वज्ञान और ध्यान से है । 'हरः प्रसंख्यान परोबभूव' यह कुमार सम्भव का वाक्य है । यहाँ प्रसंख्यान शब्द ध्यान और समाधि का वाचक है । तत्त्वार्थाधिगम भाष्यानुसारिणी सिद्ध सेन गणि विरचित टीका में वचन, काय और चित्त के निरोध का नाम ध्यान है।(तत्त्वार्थाधिगम भाष्य सिद्ध सेन, वृत्ति ६/२०) महर्षि कपिल ने राग के विनाश को तथा निर्विषय मन को ध्यान कहा है । इस प्रकार ध्यान का विविध निरूपण हुआ है । ध्यान में एकाग्र चिन्ता निरोध आवश्यक है । ध्यान के अभ्यास की क्रिया का नाम भावना है । ध्यान के च्युत होने पर जो चित्त की चेष्टा होती है उसे अनुप्रेक्षा कहा जाता है । भावना और अनुप्रेक्षा से भिन्न जो मन की प्रवृत्ति होती है वह चिन्ता कहलाती है । एक वस्तु में चित्त के अवस्थान रूप उस ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है । इस प्रकार का ध्यान अल्पज्ञ जीवों के होता है । केवलियों का ध्यान योगों (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति) के निरोध रूप है । ध्यान चार प्रकार का होता है-आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान । इनमें से प्रारम्भ के दो ध्यान दुर्ध्यान हैं तथा अन्तिम दो ध्यान शुभ ध्यान हैं । जैन ग्रन्थों में इन ध्यानों का विस्तृत निरूपण प्राप्त है । ध्यान के समान यहाँ ध्याता और ध्येय का भी निरूपण किया गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को लिखने में मुझे जिन्होंने सहयोग दिया है

(६)

उनकी मैं हृदय से आभारी हूँ । सर्वप्रथम मैं अपने निर्देशक डा० रमेश चन्द्र जैन की आभारी हूँ जिनके कुशल निर्देशन, प्रेरणा एवं सहयोग से मैं ये शोध प्रबन्ध यथासमय पूरा कर पायी हूँ । मैं अपनी मम्मी (श्रीमती मनोरमा शर्मा) एवं मामा श्री शिव अवतार शर्मा की भी अत्यन्त ऋणी हूँ जिन्होंने अपने स्नेह एवं आशीर्वाद से मुझे सदा प्रोत्साहित किया है और सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है ।

अन्त में मैं उन महानुभवों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मुझे प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पूर्ण करने में सहयोग दिया है ।

सीमा रानी शर्मा

० — ०

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद : भारतीय परम्परा में ध्यान

ध्यान की पद्धति का मूल स्रोत एवम् विकास १-५, विदकालीन ध्यान परम्परा ५, उपनिषदों में ध्यान ६-९, रामायण एवं महाभारत में ध्यान ९-११, श्रीमद् भगवद् गीता में ध्यान ११-१५, स्मृति ग्रन्थों में ध्यान १५-१७, पुराणों में ध्यान १७-२१, योगवाशिष्ठ में ध्यान २१-२२, हठयोग २२-२४, नाथयोग २५-२८, शैवागम एवं ध्यान २८-३०, पातञ्जल योग दर्शन में ध्यान ३०-३३, अद्वैत वेदान्त में ध्यान ३३-३५, बौद्ध धर्म में ध्यान ३५-३७ ।

द्वितीय परिच्छेद : ध्यान का प्ररूपक जैन साहित्य

मूलाचार ३९, भगवती आराधना ३९-४०, स्थानाङ्ग सूत्र ४०, औपपातिक सूत्र ४०, ध्यान शतक ४०-४१, तत्त्वार्थ सूत्र ४१-४२, मोक्षषाहुङ्ग ४२, समाधि तन्त्र ४२, इष्टोपदेश ४३, पंचास्तिकाय ४३, समयसार ४३, परमात्म प्रकाश ४३-४४, योगसार ४४, आत्मानुशासन ४४, तत्त्वानुशासन-ध्यान शास्त्र ४५, योगसार प्राभृत ४५, हरिभद्र का योग विषयक साहित्य ४५-४६, योगविन्दु ४६-४७, योगदृष्टि समुच्चय ४७, योगशतक ४७-४८, योगविशिका ४८, षोडशक ४८-४९, ज्ञानसार ४९, पाहुडदोहा ४९, ज्ञानार्णव ४९-५०, अध्यात्म रहस्य ५०, योगशास्त्र ५०, अध्यात्म सार ५१, योगप्रदीप ५१, योगसार ५१, यशोविजय कृत ग्रन्थ ५१-५२, योगसार बत्तीसी ५२, ध्यान दीपिका ५२, ध्यान विचार ५२, अध्यात्म तत्त्वालोकः ५२, आदिपुराण ५२-५३, हरिवंशपुराण ५३ ।

तृतीय परिच्छेद : जैन परम्परा में ध्यान

ध्यान का महत्त्व ५४-५५, ध्यान का अर्थ ५५-५८, ध्यान का पर्याय ५८, समाधि ५८-६०, योग ६०-६१, ध्यान के अंग ६१, ध्याता ६१, ध्येय ६१-६२, ध्यान ६२, ध्यान की सामग्री ६२-६३, परीषहों का ध्यान ६३, परीषहों के भेद ६४-७१, कषायों का त्यागी ७१-७२, व्रत धारण ७२-७३, अहिंसा महाव्रत ७३-७४,

अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनायें ७४-७५, सत्य महाव्रत ७५-७६, सत्य महाव्रत की पाँच भावनायें ७६-७७, अचौर्य महाव्रत ७६, अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनायें ७८-८०, ब्रह्मचर्य महाव्रत ८०, ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनायें ८०-८१, अपरिग्रह महाव्रत ८१-८२, अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनायें ८२-८३, इन्द्रिय निग्रह ८३-८४, मनोनिग्रह ८४-८५, ध्यान और अनुप्रेक्षा ८५-८७, अनुप्रेक्षा के भेद, ८७-९७, ध्यान के योग्य आसन ९७-१०२, ध्यान और प्राणायाम १०२-१०४, ध्यान व समत्व १०४-१०५, ध्यान मिद्धि के हेतु १०५-१०६, सम्यग्दर्शन १०६-१०८, सम्यग्ज्ञान १०८-१०९, सम्यक् चारित्र १०९-११० ।

चतुर्थ परिच्छेद : ध्यान के भेद

द्विविध व चतुर्विध वर्गीकरण १११-११३, आर्त्तध्यान ११३-११४, आर्त्त ध्यान के भेद ११४-११५, इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान ११५, अनिष्ट संयोगज आर्त्त ध्यान ११५-११६, प्रतिकूल वेदना या रोगार्त्त ध्यान ११६, निदान आर्त्त ध्यान ११७, आर्त्त ध्यान के अनन्त भेद ११८, आर्त्त ध्यान के लक्षण ११८-१२०, आर्त्त ध्यान और गुणस्थान व स्वामी १२०-१२१, आर्त्त ध्यान और लेश्या १२१, आर्त्त ध्यान का फल १२१-१२२ ।

पंचम परिच्छेद : रौद्र ध्यान

रौद्र ध्यान के लक्षण १२३-१२४, रौद्र ध्यान के भेद १२४-१२५, हिंसानन्द रौद्र ध्यान १२५, मृषानन्द रौद्र ध्यान १२६, चौर्यानन्द रौद्र ध्यान १२६-१२७, विषय संरक्षणानन्द रौद्र ध्यान १२७-१२८, रौद्र ध्यान के बाह्य लक्षण १२८-१२९, रौद्र ध्यान के गुणस्थान व स्वामी १२९-१३०, रौद्र ध्यान लेश्या एवं भाव १३०-१३१, रौद्र ध्यान का फल १३१ ।

षष्ठ परिच्छेद : धर्म ध्यान का स्वरूप

धर्म ध्यान के लक्षण १३३, धर्मध्यान के आलम्बन १३४, धर्म ध्यान एवं मैत्री आदि भावनायें १३५-१४०, धर्मध्यान की मर्यादायें १४०, भावना १४०-१४४, धर्म ध्यान के लिए देश या स्थान

१४४-१४५, काल १४५, आसन १४५, आलम्बन १४६, क्रम १४६, ध्यातव्य या ध्येय १४७, ध्याता १४७, अनुप्रेक्षा १४८-१४९, लेख्या १४९-१५०, लिङ्ग १५१, फल १५१-१५२।

सप्तम परिच्छेद : धर्मध्यान का वर्गीकरण

धर्मध्यान के भेद १५३-१५४, आज्ञाविचय धर्म ध्यान १५५-१५७, अपाय विचय धर्मध्यान १५७-१५९, विपाक विचय धर्मध्यान १५९-१६०, संस्थान विचय धर्मध्यान १६१-१६२, लोक १६३-१६७, धर्मध्यान का दूसरा वर्गीकरण १६७-१६९, पिण्डस्थ ध्यान १६९-१७०, पाँच धारणायें १७०-१७५, पदस्थ ध्यान १७५-१८८, रूपस्थ ध्यान १८८-१९०, रूपातीत ध्यान १९०-१९१, धर्मध्यान के अन्य भेद १९२, उपाय विचय धर्मध्यान १९२, जाव विचय धर्मध्यान १९२-१९३, अजीव विचय धर्मध्यान १९३, विराग विचय धर्मध्यान १९३-१९४, भव विचय धर्मध्यान १९४, हेतु विचय धर्मध्यान १९४-१९५, धर्मध्यान के गुणस्थान एवं स्वामी १९५-१९७।

अष्टम परिच्छेद : शुक्ल ध्यान

शुक्ल ध्यान का लक्षण १९८-२००, शुक्ल ध्यान की मर्यादायें २००, आलम्बन २००-२०१, क्रम २०१-२०२, ध्येय २०२, ध्याता २०२, अनुप्रेक्षा २०२-२०४, लेख्या २०४, शुक्ल ध्यान के लिङ्ग २०४-२०५, फल २०५, शुक्ल ध्यान के भेद २०६-२०८, पृथक्त्व वितर्क बीचार शुक्ल ध्यान २०८-२११, एकत्व वितर्क अवीचार शुक्ल ध्यान २११-२१३, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती शुक्ल ध्यान २१३-२१५, समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्ल ध्यान २१५-२१७, चारों शुक्ल ध्यानों में अन्तर २१८, शुक्ल ध्यानों के स्वामी २१८-२२०, शुक्ल ध्यान का फल २२०-२२१।

नवम परिच्छेद : ध्यान का लक्ष्य-लब्धियाँ एवं मोक्ष

ध्यान एवं गुणस्थान २२२-२२६, ध्यान का लक्ष्य : लब्धियाँ २२६-२२७, वैदिक परम्परा में लब्धियाँ २२७-२२८, योगदर्शन में लब्धियाँ २२८-२२९, बौद्ध दर्शन में लब्धियाँ २२९-२३०, जैन दर्शन में लब्धियाँ २३०-२३१, लब्धियों के प्रकार २३१-२३७,

वैदिक परम्परा में कैवल्य २३७-२३८, बौद्ध परम्परा में निर्वाण २३८-२४०, जैन परम्परा में मोक्ष २४०-२४५ ।

दशम परिच्छेद : उपसंहार

जैन ध्यान परम्परा की सामान्य विशेषताये २४८, सदाचार पर बल २४८, संयम का पालन २४८-२४९, तप २४९, अकिञ्चनत्व की भावना २४९-२५०, गुणस्थान २५०, अनुप्रेक्षा २५०, मोहक्षय २५१, अतीन्द्रिय आनन्द की उपलब्धि २५१-२५२ ।

० -- ०



प्रथम परिच्छेद

भारतीय परम्परा में ध्यान

ध्यान की पद्धति का मूल स्रोत एवम् विकासः—

आर्य साहित्य के भण्डार को मुख्य रूप से तीन भागों में बांटा गया है—वैदिक, जैन एवं बौद्ध। ऋग्वेद वैदिक साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें आधिभौतिक एवं आधिदैविक का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है लेकिन आध्यात्मिक भाव का ज्यादा वर्णन नहीं किया गया +, परन्तु थोड़ी सी मात्रा में ही वहाँ इसका इतना स्पष्ट, सुन्दर एवं भावपूर्ण वर्णन किया गया है कि उसको पढ़ने से ऐसा लगता है कि उस वक्त लोगों की दृष्टि केवल बाह्य नहीं थी × अपितु उनमें ज्ञान △, श्रद्धा =, उदारता..., ब्रह्मचर्य* आदि भावों का समावेश था जिससे उनके आध्यात्मिक होने का साफ पता चलता है। भारतीय साधनाओं में योगसाधना और योग-साधना के अन्तर्गत ध्यान-साधना का महत्व विशेष रूप से रहा है।

ब्राह्मण धर्म के मूल में “ब्रह्मन्” शब्द है। “ब्रह्मन्” अर्थात् यज्ञ को केन्द्र में रख करके ही ब्राह्मण धर्म की परम्पराओं का विकास हुआ है। फिर भी यज्ञ से सम्बन्धित, वैदिक मन्त्रों* और ब्राह्मण-ग्रन्थों में तप की शक्ति एवं महिमा के सूचक ‘तपस्’ शब्द का

+ ‘भागवताचा उपसंहार’ पृ० २५२

× (क) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १६४-४६)

(ख) वही मण्डल ६, सूक्त ९

(ग) पुरुष सूक्त, मण्डल १०, सू० ६०)

△ ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ७१

= वही, मण्डल १०, सूक्त १५१

.... वही, मण्डल १०, सूक्त ११७

× वही, मण्डल १०, सूक्त १०

* त्वं तपः परितप्याजयः स्वः । (ऋग्वेद १०/१६७/१)

[२] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

उल्लेख मिलता है।+ ऐसा जान पड़ता है कि 'तप' शब्द योग या ध्यान का ही पर्याय रहा होगा। प्राचीन उपनिषदों को छोड़कर बाद के उपनिषदों में 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः ऋग्वेद से उपनिषद् तक के साहित्य में 'तपस्' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में जितनी छूट के साथ वर्णन किया गया है, उतना 'योग' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। 'तप' शब्द का प्रयोग 'ध्यान' तथा 'समाधि' के अर्थ में भी हुआ है। ऋग्वेद का बहमस्फुरण जैसे-जैसे विकसित होता गया और उपनिषद् के जमाने में उसने जैसे विस्तृत रूप धारण किया वैसे-वैसे ध्यान मार्ग भी अधिक पुष्ट और साङ्गोपाङ्ग होता रहा। यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदों में भी समाधि के अर्थ में योग, ध्यान आदि शब्द पाये जाते हैं।—

महाभारत में योग अथवा ध्यान का उल्लेख किया गया है। △ श्री मद् भगवद्गीता के अट्ठारह अध्यायों में अट्ठारह प्रकार के योगों का वर्णन

+ (क) एत द्वै परमं तपो । अध्याहितः तप्यते परमं ह्यैव लोकं जयति । (शतपथब्राह्मण १४/८/११)

(ख) अथर्ववेद ४/३५/१-२

[ग] ऐतरेयब्राह्मण २/२६/१

☀ (क) योग आत्मा । तैत्तिरीयोपनिषद् २/४

(ख) तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ (कठोपनिषद् २/६/११)

(ग) —तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्य ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६/१३)

— (क) तैत्तिरीय उपनिषद् २/४

(ख) श्वेताश्वतर २/११, ६/३

(ग) छान्दोग्य उपनिषद् ७/६/१, ७/६/२, ७/७/२, ७/२६/२

(घ) कौशीतकि उपनिषद् ३/२, ३/३, ३/४, ३/६

△ महाभारत-शांतिपर्व, अनुशासन पर्व ।

किया गया है... उसमें ध्यान योग का छठे अध्याय में विस्तृत रूप से उल्लेख किया गया है। पुराणों में भी कई जगह इसकी चर्चा मिलती है। × योगवाशिष्ठ के छह प्रकरणों में योग व ध्यान की व्याख्या की गयी है, → योग वाशिष्ठ को तो योग का ग्रन्थ राज कहते हैं। न्याय-दर्शन △ एवं वैशेषिक दर्शन— में इसका सम्यक् रूप से विवेचन किया गया है। ब्रह्मसूत्र में महर्षि बादरायण ने तो तीसरे अध्याय का नाम ही साधन अध्याय रखा है और उसमें आसन ध्यान आदि का वर्णन किया गया है। ☀

हठयोग के अन्तर्गत हठयोग-सिद्धान्त की स्थापना करते हुए आदिनाथ ने योग की क्रियाओं के द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त करने का परम गूढ़ रहस्य बतलाया है। हठयोग के अनेक ग्रन्थों में हठयोग प्रदीपिका मुख्य मानी गयी है।

बौद्ध धर्म की परम्परा निवृत्ति प्रधान मानी गयी है क्योंकि यहाँ आचार, नीति, खान-पान, शील, प्रज्ञा एवं ध्यान आदि का विस्तृत रूप

... (क) श्री मद्भगवद्गीता में योग के अट्ठारह प्रकार इस तरह से हैं—
 १- सयत्त्व योग, २- ज्ञान योग, ३- कर्मयोग, ४- दैव योग,
 ५- आत्मसंयम योग, ६- यज्ञ योग, ७- ब्रह्म योग, ८- सन्यास योग
 ९- ध्यान योग, १०- दुःखसंयोग वियोग-योग, ११- अभ्यास योग,
 १२- ऐश्वरी योग, १३- नित्याभियोग १४- शरणागति योग १५- सातत्य योग १६- बुद्धि योग १७- आत्म योग तथा १८- भक्ति योग।

(ख) गीता में पहले के छह अध्याय कर्मयोग प्रधान, बीच के छह अध्याय भक्तियोग प्रधान तथा अन्तिम के छह अध्याय ज्ञान योग प्रधान हैं।

× (क) भागवतपुराण ३/२८, ११/१५, १६/२०

(ख) स्कन्धपुराण, भाग १, अध्याय ५५

→ वैराग्य, मुमुक्षु व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम एवं निर्वाण ये छह प्रकरण योग साधना प्रधान हैं।

△ समाधि विशेषाभ्यासात्। (न्यायदर्शन ४/२/३६)

— वैशेषिक दर्शन ६/२/२

☀ आसीनः संभवात् ४/१/७, ध्यानाञ्च ४/१/८, अचलत्वं चापेक्ष्य ४/१/९
 स्मरन्ति च, ४/१/१०, यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ४/१/११ (ब्रह्मसूत्र)

(४) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

से उल्लेख किया गया है। बौद्ध परम्परा में यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि भगवान् बुद्ध बुद्धत्व प्राप्त होने से पहले छह वर्षों तक ध्यान-साधना में लीन रहे।

जैन धर्म भी निवृत्ति प्रधान कहा जाता है। जैन धर्म के मौलिक ग्रन्थ आगम कहलाते हैं। जैनागमों में योग के अर्थ में अधिकतर ध्यान शब्द प्रयुक्त हुआ है। ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन अनेक जैनागमों में मिलता है।+ नियुक्ति में भी आगम में कहे गये ध्यान का स्पष्ट रूप से वर्णन मिलता है।☀ उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ सूत्र में भी ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है।= ध्यान शतक में भी आगमोक्त बात का स्पष्टीकरण है क्योंकि इसके काल तक आगमों में कही गयी शैली ही प्रधान रही थी, पर इस शैली को श्री हरिभद्र सूरि ने योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविशिका, योगशतक और षोडशक ग्रन्थों को लिखकर बदल दिया और एक नये युग को जन्म दिया। हेमचन्द्र सूरि ने अपने योगशास्त्र में आसन तथा प्राणायाम एवं ध्यान से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। आचार्य शुभचन्द्र जी ने ज्ञानार्णव में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यान का विस्तृत वर्णन किया है, यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। उपाध्याय श्री यशोविजय कृत अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् तथा टीका सहित बत्तीस बत्तीसीवाँ योग एवं ध्यान से सम्बन्धित विषयों पर लिखी गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तप की प्रधानता के समय एवं समाधि तप के अङ्ग समझे जाते थे लेकिन बाद में योग का महत्व व्यापक होने पर वे योग के अङ्ग बने। अर्थात् जिन्होंने

+ (क) स्थानाङ्ग, अध्याय ४, उद्देश १

(ख) समवायांग स. ४

(ग) भगवती शतक-२५ उद्देश ७

(घ) उत्तराध्ययन ३०/३५

☀ आवश्यक नियुक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन, गाथा १४६२-१४६६

= तत्त्वार्थ सूत्र. ६/२७ से आगे तक।

उन्होंने स्वाध्याय, ध्यान एवं समाधि आदि को तप के अङ्ग रूप माना ×. और जिन्होंने योग को मुख्य अङ्गी माना उन्होंने तप, ध्यान समाधि को उसके अङ्ग रूप माना ।....

वेदकालीन ध्यान परम्परा:-

भारतीय संस्कृति में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद कहे जाते हैं और वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना गया है। कहा जाता है कि इन वेद मन्त्रों को किसी भी ऋषि या मुनि ने स्वयं नहीं रचा अपितु ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं मन्त्रद्रष्टा थे। इन मन्त्रों का भगवान् हिरण्य-गर्भ ने ऋषियों को साक्षात्कार करवाया था। वेद मन्त्र रहस्यों से भरे हुए हैं उनके एक-एक पद अनेक भावों को प्रगट करते है। उन मन्त्रों को अगर गहराई से देखा जाये तो पता चलता है कि वहां ध्यान, तप, योग एवं समाधि से सम्बन्धित बहुत मात्रा में सामग्री है। इन्द्र, अग्नि, वरुण एवं सोम आदि देवताओं के वर्णन के पीछे आध्यात्मिकता का सार पाया जाता है। जो गहराई से सोचने पर ध्यान योग के अर्थ में निकलता है। मोहनजोदड़ों की खुदाई से प्राप्त एक मुद्रा पर अंकित चित्र में त्रिशूल, मुकुटविन्यास नग्नता, कायोत्सर्गमुद्रा, नासाग्रदृष्टि एवं ध्यानावस्था में लीन मूर्तियों से ऐसा सिद्ध होता है कि ये मूर्तियाँ किसी मुनि या योगी की हैं जो कि ध्यान में लीन हैं।* मोहनजोदड़ों का काल प्रागवैदिक है।△ वैदिक परम्परा में ध्यान का अस्तित्व चाहे तप के रूप में या योग के रूप में किसी न किसी प्रकार से अवश्य रहा है। उस काल में विद्वानों का कोई भी यज्ञ-कर्म बिना ध्यान योग के सिद्ध नहीं होता था।+

× जैन परम्परा में स्वाध्याय, ध्यान आदि आभ्यन्तर तप अङ्ग हैं।

.... तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (योगसूत्र २/१)

* मोहनजोदारो एण्ड द इण्डस सिविलाइजेशन, जिन्द १ पृ. ५३

△ हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट इण्डिया पृ. २५

+ यस्माद्भूते न सिन्धति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीरो योगमन्वति (ऋग्वेद १/१८/७)

(६) जैनपरम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

उपनिषदों में ध्यान:—

उपनिषद् के काल में ध्यान की साधना वेदों से बीज रूप में अंकुरित होकर विकसित अवस्था को प्राप्त हो गई थी। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ध्यान का प्रचुर मात्रा में स्पष्ट वर्णन किया गया है। इसमें साधना करने के बाद ही ध्यान रूप मन्थन से अग्नि की भांति अपने हृदय में छुपे हुए परम देव परमेश्वर के दर्शन का उपदेश दिया गया है।☀ वहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार से तिलों से तैल, दही में घी एवं अरणियों में अग्नि छिपी रहती है उसी प्रकार से परमात्मा हमारे हृदय में छिपे रहते हैं। वे परमात्मा तब ही प्राप्त होते हैं जब साधक विषयों से विरक्त होकर सदाचारी बनकर संयमरूपी तपस्या के द्वारा उनका निरन्तर ध्यान करता है।— यहाँ पांच मन्त्रों में ध्यान की सिद्धि के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियों में प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यान में बिघ्न न कर सके।△ वरुण ने अपने पुत्र भृगु को तप का महत्व समझाते हुए कहा है कि—तू तप के द्वारा ब्रह्म के तत्व को समझने की कोशिश कर। यह तप ब्रह्म का ही स्वरूप है।* उपनिषदों में ध्यान, योग एवं तप आदि शब्द समाधि के अर्थ में

☀ स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निरूढवत् ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद् १/१४)

— तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरायः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्माऽऽमनि गृह्यते असौ, सत्येनैतं तपसा योऽनुपश्यति ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् १/१५)

△ युक्त्वाय मनसा देवान् सुवयंती धिया दिवम् ।

बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ (वही २/३)

* तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । (तैत्तिरीयोपनिषद् ३/२)

ही प्रयुक्त हुए हैं।... उपनिषदों में ध्यान करने की विधि बतलाते हुए कहा गया है कि ध्यान योग का साधक सिर गले एवं छाती को ऊँचा उठाये रखे एवं समस्त इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर उनका मन के द्वारा हृदय में निरोध कर लेना चाहिये और फिर ऊँकार रूपी नौका का सहारा लेकर परमात्मा का ध्यान करके समस्त भयानक प्रवाहों को पार कर लेना चाहिये। × वहाँ ध्यान करने के लिए स्वच्छ एवं समतल भूमि पर आसन लगाने के लिए कहा गया है। * ध्यान को आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है इसी कारण ध्यान को मोक्ष प्राप्ति का कारण माना गया है। Δ मनुष्य ध्यान योग के साधन के द्वारा समस्त मलों को धोकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप को भली प्रकार से प्रत्यक्ष रूप में देख लेता है, जिससे वह असंग हो जाता है और कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो जाता

.... (क) छान्दोग्योपनिषद् ७/६/१

(ख) तैत्तिरीयोपनिषद् २/४

(ग) श्वेताश्वतरोपनिषद् २/११/६

× त्रिहृन्नतं स्थाप्य समं शरीरं

हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्

स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

प्राणान् प्रपीडयेद् संयुक्तचेष्टः

क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत् ।

दुष्टाशुक्तमिव वाहमेनं

विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् २/८/६]

* वही २/१०

▷ तं दुर्दर्शं गूढं मनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

(कठोपनिषद् १/२/१२)

(८) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

है। + तप के द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है☀ और वह ब्रह्म-ज्ञानी परमात्मा के स्वरूप को जान लेता है, जो परमात्मस्वरूप को जान लेता है वह ससार से मुक्त हो जाता है। — षडंगयोग के प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क, और समाधि के वर्णन में कहा गया है कि विषयों में लीन मन जीव को बन्धन में फंसाता है जबकि निर्विषय मन मुक्ति दिलाता है। इसलिए विषयासक्ति से मुक्त और हृदय में निरुद्ध मन जब अपने ही अभाव को प्राप्त होता है तब वह परमपद पाता है।* इसीलिए कल्याणकारी साधक सांसारिक भागों की अनित्यता और दुःखरूपता को समझकर इनसे हमेशा विरक्त हो जाते हैं एवं परमगति को प्राप्त करके फिर कभी लौटकर नहीं आते हैं। × इस परमगति की प्राप्ति के लिए आचार-विचार जरूरी है।

+ यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्त

तेजोमयं भ्राजते तत् सुशान्तम् ।

तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही

एकः कृतार्थी भवति वीतशोकः ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद् २/१४)

☀ यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।

गुहां प्रविश्यं तिष्ठन्तं यो भूतेभिव्यपश्यत ॥ एतद्वै तत् ।

(कठोपनिषद् २/६)

— (क) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव त्रिदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽप्यनाय ।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/८)

(ख) यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भ्यं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ (कठोपनिषद्

२/३/२]

◁ प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।

तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगो योग उच्यते ॥ (अमृतनादोपनिषद् ६)

* निरस्तविषयासंगा सन्निरुद्धं मनोहृदि ।

यदा यात्युन्मनीभाव तदा तत्परम्पदम् ॥ (ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ४)

× अथोन्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजायन्ते । (प्रश्नोपनिषद् १/१०)

भारतीय परम्परा में ध्यान (६)

जैसे श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, दान आदि और इनकी महती आवश्यकता का उल्लेख विभिन्न उपनिषदों में हुआ है।... मोक्ष प्राप्ति के लिए तप एव समाधि की अनिवार्यता बतलायी गयी है। योग एवं समाधि की अवस्था में वाणी एवं मन निवृत्त हो जाते हैं, साधक निर्भीक बनता है और ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है।× जब साधक को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है तब वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।* इस प्रकार उपनिषदों में ध्यान का विभिन्न रूपों में उल्लेख किया गया है।

रामायण एवं महाभारत में ध्यान:—

रामायण एवं महाभारत का भारतीय वाङ्मय में बहुत ऊँचा स्थान है। महाभारत को तो विद्वान् पंचम वेद के नाम से पुकारते हैं, एवं इसे वेदों का सा आदर देते हैं। रामायण एवं महाभारत दोनों में ही अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष चारों, पुरुषार्थों, नीति एवं कर्म का निरूपण किया गया है। इसी क्रम में कहीं-कहीं कई स्थलों पर ध्यान एवं योग का भी वर्णन किया गया है। महाभारत में बतलाया गया है कि जीव को सर्वप्रथम अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये क्योंकि इन्द्रियां चंचल, अस्थिर तथा अनेकों प्रकार की कषायों की जड़ होती हैं।△ इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् मन को स्थिर

... (क) तदेतत् त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति । (बृहदारण्यकोपनिषद् ५/२/३]

(ख) सत्यमेव जयते नानृतम् । (मुण्डकोपनिषद् ३/१/६)

(ग) यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभन्ति ।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६/२/१६

÷ यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति ॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ३/६)

* तेषुब्रह्मलोकेषु पराः...परावतः...वसन्ति...तेषां...न पुनरावृत्तिः
(बृहदारण्यकोपनिषद् ६/२/१५)

△ महाभारत, अनुशासन पर्व, ६६/२८-३०

[१०] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

रखे, फिर पांचों इन्द्रियों सहित मन को ध्यान में एकाग्र करे। + साधक को धर्म के पालन करने को जरूरी बतलाते हुए कहा है कि सत्य ही धर्म है☀, अन्य धर्मों के अलावा योगी को अहिंसा का पालन करने के लिए कहा गया है, क्योंकि सत्य एवं अहिंसा के बिना समता एवं शांति नहीं आ पाती। योगी जब ध्यान का आरम्भ करता है तो पहले उसके द्वारा क्रमशः विचार, विवेक एवं वितर्क नामक ध्यान आते हैं। साधक को रोगादि विषयों को छोड़कर ध्यान में सहायक देश, कर्म, अर्थ, उपाय, अपाय, आहार, संहार, मन, दर्शन, अनुराग, निश्चय और चक्षुष इन बारह योगों का सहारा लेना चाहिये। = आश्वमेधिक पर्व में इन्द्रिय समुदाय को वश में करके एकाग्र चित्त से निर्जन वन में अपने अनतःकरण में परमात्म तत्व का चिन्तन करने के लिए कहा गया है, क्योंकि इस प्रकार के ध्यान के द्वारा साधक का चित्त प्रसन्न हो जाता है और वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। △

रामचरित मानस में ध्यान के स्थान पर तप को ज्यादा महत्व दिया गया है। वहां तप को सुख देने वाला और दुःख दोषादि का नाश करने वाला कहा गया है। * तप ही सारी सृष्टि का आधार है। × तपस्या के द्वारा साधक अपने सभी अशुभ कर्मों का क्षय कर देता है एवं सांसारिक बन्धनों के भव से पार हो जाता है। ध्यान के द्वारा जीव अपने सभी दोषों को नष्ट करके मोक्ष पद को प्राप्त करता है

+ एवमिन्द्रिय ग्रामं शनैः सम्परिभावयेत्।

संहरेत क्रमश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति ॥ (शांतिपर्व १६५/१६)

☀ धर्म न दूसर सत्य समाना।

आगम निगम पुराण बखाना ॥ (रामचरितमानस)

= छिन्न दोषो मुनिर्योगान् युक्तोयुं जीत द्वादश।

देश कर्मानुरागार्थनुपायाप निश्चयो।

चक्षुराहारसंहारैरमनसा दर्शनेन च ॥ (महाभारत, शांतिपर्व २२६/५४)

△ संक्षिप्त महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, पृ० १५३६

* तपु सुखप्रद दुख दोष नसाबा। (रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ ८४)

× तप अधार सब सृष्टि भवानी। [रामचरितमानस, बालकाण्ड पृ० ८५)

एवं परमात्मा के स्वरूप में लीन हो जाता है ।...

श्रीमद् भगवद्गीता में ध्यानः—

श्रीमद् भगवद्गीता एक अनुपम ग्रन्थ है जिसे सारा संसार आदर की दृष्टि से देखता है, अगर इसे हम विश्व साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। गीता में 'योग' शब्द बहुत बार आया है। इसके अट्टारह अध्यायों का नाम 'योग' है। गीता का प्रत्येक अध्याय ऊनत्सदिति श्रीमद् भगवद्गीतासूपनिषत्सु बह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे...योगो नाम....अध्यायः' इन शब्दों के साथ समाप्त होता है। इसी कारण गीता को 'योगशास्त्र' के नाम से भी पुकारा जाता है। विभिन्न शास्त्रों में योग की परिभाषा भिन्न भिन्न मानी गयी है। गीता में स्वतः सिद्ध समता के स्वरूप वाली स्थिति को योग कहा गया है। × इसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, शक्ति योग एवं ध्यानयोग आदि का उल्लेख किया गया है। ध्यानयोग की चर्चा करते हुए इसमें कहा गया है कि जो समता कर्मयोग से प्राप्त होती है वही समता ध्यानयोग से भी प्राप्त होती है। गीता के छठे अध्याय में श्लोक १० से ३२ तक ध्यान योग का ही वर्णन किया गया है। ध्यान योग को करने के लिए साधक को एकान्त में बैठकर मन एवं इन्द्रियों को वश में करना चाहिये। * जिसका ध्येय, लक्ष्य केवल परमात्मा में लगने का ही है अर्थात् जो परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही ध्यान योग करने वाला है उसको यहाँ योगी कहा गया है। ध्यान के लिये आसन बतलाते हुए कहा गया है कि शुद्ध भूमि

.... नावतन्ते पुनः पार्थमुक्ता संसारदोषतः जन्मदोष परिक्षीणाः स्वभा-
वेपर्यवस्थिताः ।

(महाभारत, शान्तिपर्व, १५६/३)

× योगस्थः कुह कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ (श्रीमद् भगवद्-
गीता २/४८)

* योगो युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीर परिग्रहः ॥ (वही ६/१०)

(१२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

पर सुविधाजनक कुशा आदि का आसन बिछाकर चित्त एवं इन्द्रियों को वश में करके मन को एकाग्र करके काया, ग्रीवा और शिर को सीधा करके केवल अपनी नासिका के अग्रभाग को देखते हुए योगी स्थिर होकर बैठे ।+ गीता में योग के कुछ सामान्य लक्षणों का निर्देश करते हुए व्यवहारिक योग के लक्षण विभिन्न प्रकार के बतलाये गये हैं जो इस प्रकार से हैं— कर्म फल में आसक्ति का न होना☀, विषयों के प्रति अनासक्ति—, समत्व योग, निष्कामता△, एवं सुख-दुख एवं लाभ में समता* आदि ।

उपर्युक्त लक्षण अभावात्मक लक्षण कहलाते हैं, लेकिन इनके अतिरिक्त कुछ भावात्मक लक्षण भी कहे गये हैं, जैसे सभी कार्य भगवान को अर्पण करना×, सब अवस्थाओं में अर्थात् सुख-दुख होने पर भी समान रूप से संतुष्टि.... आदि ।

+ शुची देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं एवं दिशश्चानवलोकयन् ॥ (श्रीमद् भगवद्गीता

६/११-१३)

☀ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफल हेतुभ्रंर्मां ते संगोऽस्त्वकर्मणि । (गीता २/४७, ४/२०)

— तस्मादंसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार ।

असक्तौ ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ (श्रीमद् भगवद्गीता ३/१६)

△ यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्प वर्जिताः । (गीता ४/१६)

* सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय जुज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ (श्रीमद् भगवद्गीता २/३६)

× ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ (वही १२/६)

.... मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ (वही १०/६)

काम एवं क्रोध ही मनुष्य को पाप की ओर प्रेरित करते हैं एवं आत्मा को आवृत्त कर लेते हैं। काम इन्द्रियों के द्वारा सक्रिय होता है, परन्तु मन इन्द्रियों से परे है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है।... कुछ लोग ध्यान के द्वारा आत्मा को आत्मा से देखते हैं तो कुछ लोग आत्मा को सांख्य योग के द्वारा तथा कुछ कर्मयोग के द्वारा आत्मा को देखते हैं। × जो लोग आत्मा को आत्मा के द्वारा देखते हैं, उन मनुष्यों को पूरी तरह से सन्तोष मिलता है और वे परमानन्द की अनुभूति में लीन हो जाते हैं। भगवान् में जो वास्तविक स्थिति है, जिसको पाने के बाद कुछ भी पाना बाकी नहीं रह जाता ऐसी सम्यक् स्थिति वाली जो निर्वाण परमा शान्ति है, साधक ध्यान के द्वारा उस स्थिति को प्राप्त कर लेता है * ध्यान योग में पहले निर्विकल्प स्थिति होती है फिर उसके बाद निर्विकल्प बोध होता है। इसी निर्विकल्प बोध को यहां निर्वाण परमशांति कहा गया है। जब ध्यान योग के द्वारा चित्त संसार से उपरम हो जाता है, तो योगी का चित्त से और संसार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, और जैसे ही उसका संसार से सम्बन्ध विच्छेद होता है उसको अपने आप में ही अपने स्वरूप की अनुभूति हो जाती है। Δ ध्यान योग में पहले 'मन को केवल स्वरूप में ही लगाना है' यह धारणा होती है। ऐसी धारणा होने के बाद स्वरूप के सिवाय दूसरी कोई वृत्ति पैदा भी हो जाय,

... इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ [श्रीमद् भगवद्गीता ३/४२)

× ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति के चिदात्मानमात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ (वही १३/२४)

* युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ (वही ६/१५)

Δ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ [वही ६/२०-२१)

(१४) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

तो उसकी उपेक्षा करके उसको हटा देने और चित्त को केवल स्वरूप में ही लगाने से जब मन का प्रवाह केवल स्वरूप में ही लग जाता है तो उसको 'ध्यान' कहते हैं। ध्यान के समय ध्याता, ध्यान और ध्येय—यह त्रिपुटी रहती है। अर्थात् साधक ध्यान के समय अपने को ध्याता मानता है एवं स्वरूप में तद्रूप होने वाली वृत्ति को मानता है और साध्यरूपस्वरूप को ध्येय मानता है। योगाभ्यास या ध्यान की साधना के लिए शारीरिक समस्त चेष्टाओं को शान्त करना आवश्यक माना गया है, क्योंकि शारीरिक क्रियाओं में समता रहने पर मन की एकाग्रता बढ़ती है। इसी के साथ आहार, शयन, रहन-सहन, जागरण आदि क्रियाओं को यथायोग्य सम-प्रमाणित करने का भी निर्देश है। + तेहरवें अध्याय में ज्ञान के लक्षण बताते हुए अमनित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्योपासना, शुचिता स्थिरता, आत्मनिग्रह, आदि गुणों की चर्चा है। ये सभी नैतिक गुण आत्मा को ऊपर उठाने वाले हैं। ☸

इस प्रकार गीता में प्रत्येक योग के स्वरूप भूत लक्षण का वर्णन किया गया है और हर हालत में आत्मसंयम, कामना का त्याग सभी जीवों से प्रेम, अहंकार का त्याग, निर्भयता, शीतोष्णता, सुख-दुख एवं निंदा स्तुति में समता भाव आदि गुणों की अपेक्षा की गई है। फिर भी कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग क्रमशः कर्म, ध्यान, भक्ति एवं ज्ञान पर विशेष जोर देते हैं। इसमें प्रत्येक योग का अपना एक निश्चित भावात्मक लक्षण है, जो उसके लक्ष्य का निर्देशक भी है।— जैसे कर्मयोग का लक्ष्य लोगों का कल्याण करना है, ज्ञानयोग का लक्ष्य 'वासुदेवः सर्वमिति' ज्ञान है। सांख्य योग का लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति है तो ध्यान योग का लक्ष्य ब्रह्म संस्पर्श रूप अक्षय सुख की प्राप्ति है।.... सब जगह एक सच्चिदानन्द

+ गीता का व्यवहारदर्शन, पृ० २२२ ☸ श्रीमद्भगवद्गीता १३/८-१२

— एषा बाह्यी स्थिति। पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। (वही २/७२)

.... युजन्नेव सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।

मुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता ६/२८)

धन परमात्मा ही परिपूर्ण है, ध्यान योग से युक्त योगी सम्पूर्ण प्राणियों में अपनी आत्मा को और सम्पूर्ण प्राणियों को अपने अन्तर्गत देखता है। × यहां परमयोगी का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जो ध्यान युक्त ज्ञानी महापुरुष अपने शरीर की उपमा को सब जगह अपने को समान रूप से देखता है एवं सुख-दुख को भी समभाव से देखता है वह परमयोगी कहलाता है। *

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता एक रहस्यमयी ग्रन्थ है जिसमें एक-एक अध्याय अनूपम है। ये योग सम्बन्धी सामग्री से भरा पड़ा है इसको योगशास्त्र कहना गलत नहीं है।

स्मृति ग्रन्थों में ध्यान:—

‘स्मृति’ शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, एक अर्थ में वह वेद वाङ्मय से इतर ग्रन्थों, यथा पाणिनि के व्याकरण, श्रौत, ग्रह्य एवं धर्म सूत्रों, महाभारत, मनु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति एवं अन्य ग्रन्थों से सम्बन्धित है। किन्तु सकीर्ण अर्थ में स्मृति एवं धर्मशास्त्र का अर्थ एक ही है, जैसा कि मनु ने भी कहा है कि वेद एवं स्मृति में कहे धर्म का जो मनुष्य पालन करता है उसको दोनों लोकों में कीर्ति की प्राप्ति होती है। श्रुति वेद है और धर्मशास्त्र स्मृति है। वे दोनों सम्पूर्ण अर्थों में निर्विवाद हैं। △ तैत्तिरीय आरण्यक में भी ‘स्मृति’ शब्द दो बार आया है (१.२) गौतम (१.२) तथा वशिष्ठ (१.४) ने स्मृति को धर्म का उपादान माना है। सम्पूर्ण स्मृतिग्रन्थों को आचार-विचार की नीतियों का अमूल्य खजाना कहा जाता है। इन

× सर्वं भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः ॥ (वही ६/२६)

* आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगि परमो मतः ॥ (वही ६/३२)

△ श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखमं ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।

ते सर्वाथर्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मैर्हि निर्वभौ ॥ (मनस्मृति

२/६/१०)

(१६) जैनपरम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

ग्रन्थों में मानव को जीवन में किस प्रकार से आचरण करना चाहिये उन नियमों का पालन वह किस प्रकार से करे इसको विस्तृत चर्चा की गई है। इसमें वैदिक परम्परा में विहित चारों आश्रमों की विभिन्न नीतियों की विस्तृत भूमिका का उल्लेख किया गया है।.... याज्ञवल्क्यस्मृति, मनु स्मृति, पाराशरस्मृति आदि स्मृतियों में साधकों के अनेक कर्त्तव्यों तथा गृहस्थों के सत्कर्मों की चर्चा की गई है। × स्मृतियों में विहित वर्णों तथा आश्रमों के तम्यक धर्म का पालन करने से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।*

याज्ञवल्क्य स्मृति में योग से सम्बन्धित कुछ बातें कही गयी हैं कि मन एवं बुद्धि को विषयों से हटाकर ध्येय को आत्मा में स्थित करके योग को करना चाहिये। △ योग की क्रियाओं तथा अभ्यास के द्वारा— इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। बाह्य चित्त वृत्तियों के निरोध से आत्म दर्शन अथवा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। + जो साधक शुभ आचार से युक्त होकर और हमेशा पवित्र

.... चत्वारः आश्रमाः ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ परिव्राजकाः। (वशिष्ठ स्मृति २०६)

× संध्यास्नानं जपो होम स्वाध्याय देवतार्चनम् ।

विश्वदेवातिर्यच षट् कर्माणि दिने दिने ॥ (पाराशर स्मृति ३६)

* योगशास्त्रं प्रवक्ष्यामि संक्षेपात् सारमुत्तमम् ।

यस्य च श्रवणाऽद्यान्ति मोक्षचैव मुमुक्षवः ॥ (हारीतस्मृति ८/२)

△ अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।

ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ४/१११)

— प्राणायामेन वचनं प्रत्याहारेण च इन्द्रियम् ।

धारणाभिशकृत्वा पूर्वं दुर्घर्षणं मनः ॥ (हारीतस्मृति ८/४)

* अरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रिय प्रीति निवर्तकस्य ।

अध्यात्मचिन्तागत मानसाच्च ध्रुवाह्यनावृत्तिर पेक्षकस्य इति ॥ वशिष्ठ स्मृति २५४)

+ इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्याय कर्मणाम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति १/८)

रहने वाले और हमेशा जप, तप तथा होम करने वाले होते हैं उन्हें कभी भी रोगादि नहीं होता है।+ इस प्रकार स्मृतियों में मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जप, तप, एवं योगाभ्यास का वर्णन मिलता है।

पुराणों में ध्यान:-

भारतीय संस्कृति के स्वरूप की जानकारी के लिए पुराणों के अध्ययन की बहुत आवश्यकता है। पुराण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। मंत्र संहिता, ब्राह्मण, उपनिषदों जैसे वैदिक वाङ्मय के ग्रन्थों में 'पुराण' की सत्ता है। पुराण शब्द की व्युत्पत्ति 'पुरा भवम्' इस अर्थ में 'सायं चिरं प्राह्वे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्टयुट्युलौङ्गितुच्' है।^१ यास्क ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार से की है कि जो प्राचीन होकर भी नया होता है, वह पुराण है।—पद्म पुराण के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति इन सबसे भिन्न है—वहाँ जो प्राचीनता की कामना करता है वह पुराण है^२ ऐसा कहा गया है। वायुपुराण के अनुसार प्राचीन काल में जो जीवित था उसे 'पुराण'-कहते हैं^३

श्रीमद् भागवत पुराण में भक्तियोग के साथ-साथ अष्टाङ्ग-योग का भी वर्णन किया गया है। भागवत पुराण के तीन स्कन्धों में योग का विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्ध के २५ वें तथा २८ वें अध्यायों में कपिल जी का अपनी माता देवहूति के प्रति योग का उपदेश, फिर इसी स्कन्ध के १३ वें अध्याय में सनकादियों को हंसरूपधारी भगवान् के द्वारा योग का वर्णन तथा ग्याहरवें स्कन्ध के १४ वें अध्याय में ध्यान योग का विशद वर्णन

+ मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयत्नात्मनाम् ।

जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ (मनस्मृति ४/१४६)

☀ पाणिनि सूत्र ४/३/२३

— यास्क निरुक्त ३/१९)

△ पुरा परम्परा वष्टि पुराणं तेनु तत् स्मृतम् । (पद्म पुराण ५/२/५३)

☀ यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ (वायुपुराण १/२०३)

(१८) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

किया गया है। इसी स्कन्ध के १५ वें अध्याय में अणिमा आदि अट्ठा-
रह सिद्धियों का वर्णन, अध्याय १६ में यमनियमादि का वर्णन, अध्याय
२६ वे में ज्ञान योग एवं भक्तियोग के साथ अष्टाङ्ग योग का विशद
वर्णन किया गया है। इसमें कथाओं के माध्यम से योग की क्रियाओं
एवं साधनाओं का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है जिनमें योग-
सम्बन्धी शब्दों के अनेक संकेत प्राप्त होते हैं, जैसे मनः प्रणिधान.....,
आसन ×, भगवान् में अपना मन भक्तिपूर्वक लगाना, मन, वचन एवं
दृष्टि की वृत्तियों से अपनी आत्मा को एकाग्र करके अन्तः श्वास लेना
तथा अन्तिम बार श्वास को भीतर खींचकर ब्रह्मरन्ध्र से प्राण त्याग
करना * आदि।

श्रीमद् भागवत में ध्यान योग के वर्णन में कहा गया है कि प्रत्यय
की जो एकतानता हो, ('यत्रैकतानता ध्यानम्') उसे ध्यान कहते हैं।
ध्यान करने की विधि में साधक सब ओर फैले चित्त को एक स्थान में
स्थिर करे तथा फिर भगवान् के पैर के ध्यान से आरम्भ कर ऊपर
मुख की मन्द मुस्कान के ऊपर अपना ध्यान जमा दे। Δ इस विधि

... तस्मिन्निर्म नजयंरण्ये पिप्पलोस्थ आस्थितः ।

आत्मनाऽऽत्मानमात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥

ध्यायतश्चरणाम्भोजः भावनिर्जित चेतसा ।

औत्कण्ठ्याश्रुकुलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हृदि ॥ (भागवतपुराण
१/६ १६-१७)

× तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासौ बदरीषण्डमण्डिते ।

आसीनोऽथ उपस्पृश्य प्रणिदश्यौ मनः स्वयम् ॥ (श्रीमद् भागवत
पुराण १/७/३)

* कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टि वृत्तिभिः ।

आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तश्वास उपागमत् ॥ (वही १/६/४३)

Δ तत सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ।

नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥ (वही ११/१४/४३)

तस्मिंल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।

विलक्ष्यैकत्र संयुज्याद्भुजे भगवतो मुनिः ॥ (भागवत पुराण ३/२८/२०
एवं २१)

के द्वारा चित्त के वशीभूत हो जाने पर जैसे एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिल जाती है उसी प्रकार साधक अपने को सर्वात्मा में और सर्वात्मा में खुद को देखता है। जो योगी ध्यान योग के द्वारा अपने चित्त को एकाग्र कर लेता है उसके चित्त का द्रव्य, ज्ञान और कर्म सम्बन्धी भ्रम जल्दी ही निवृत्त हो जाता है।+

योग के आठ अङ्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि हैं। पातञ्जल सूत्रों में तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकार के बतलाये गये हैं परन्तु भागवतपुराण में यम ☀ नियम— के बारह भेद माने गये हैं।

शिवपुराण में व्याख्या इस प्रकार की गई है—‘ध्ये चिन्तायाम्’ यह धातु माना गया है। इसी धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर ध्यान की सिद्धि होती है, अतः विक्षेप रहित चित्त से जो शिव का बारम्बार चिन्तन किया जाता है, उसी का नाम ध्यान है। ध्येय में स्थित हुए चित्त की जो ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह रूप से बने रहना ‘ध्यान’ कहलाता है। यहाँ ध्यान के दो प्रायोजन बतलाये गये हैं—१— मोक्ष २— अणिमादि सिद्धियों की उपलब्धि। शिवपुराण में ध्यान के दो भेदों का उल्लेख किया गया है—१— सविषय ध्यान तथा निर्विषय ध्यान। सकार स्वरूप का अबलम्बन करने वाला सविषय ध्यान एवं निराकार स्वरूप का बोध निर्विषय ध्यान माना गया है। इन सविषय एवं निर्विषय ध्यान को ही क्रमशः सबीज और निर्बीज कहा गया हो। △ ध्यान के अभ्यास से ज्ञान की प्राप्ति तो होती ही है साथ ही जैसे—प्रज्वलित

+ ध्यानेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।

संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥ (भागवतपुराण ११/१४/४६)

☀ अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचयः ।

आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम् ॥ श्रीमद् भागवत पुराण ११-१६-३३)

— शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदचंनम् ।

तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ (वही ११/१६/३४)

△ शिवपुराण—कल्याण अंक, वर्ष ३६, अंक १, पृ० ५५८

[२०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

हुई आग सूखी एवं गीली लकड़ी को भी जला देती है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि शुभ अशुभ कर्मों को क्षण भर में जला देती है। जिस प्रकार से एक छोटा सा दीपक भी अन्धकार का नाश कर देता है उसी प्रकार से थोड़े से योगाभ्यास के द्वारा योगी महान पापों का विनाश कर देता है एवं क्षण भर के श्रद्धापूर्वक किये हुए ध्यान के द्वारा साधक अनन्त श्रेय को प्राप्त करता है।...

श्रीमद् भागवत पुराण में नारद ने ध्यान के महत्त्व को समझाते हुए ध्रुव को आसन लगाकर, प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मैल को दूर करके ध्यानस्थ हो जाने के लिए कहा था। × प्राणायाम को शिव पुराणों में दो प्रकार का कहा गया है*
१- अगर्भ, २- सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह कहलाता है जिसमें जप तथा ध्यान के बिना ही, मात्रा के अनुसार किया जाये जबकि सगर्भ प्राणायाम के अंतर्गत जप तथा ध्यान अवश्य हो जाता है। = विष्णु पुराण में अगर्भ को अबीज तथा सगर्भ को सबीज प्राणायाम

.... यथा वह्निर्महादीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत् ।

तथा शुभाशुभं कर्म ध्यानाग्निर्दहते क्षणात् ॥

ध्यायतः क्षणमात्रं वा श्रद्धया परमेश्वरम् ।

यद्भवेत् सुमहेच्छेयस्तस्यान्तो नैव विद्यते ॥ (शिवपुराण वायवीय-संहिता, उत्तर खण्ड, ३६/२५, २६)

× प्राणायामेन त्रिवृत्ता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।

शनैर्व्युदास्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणां गुरुम् ॥ (भागवतपुराण ४/८/४४)

* (क) अगर्भश्च गर्भसंयुक्त प्राणायामः शताधिकः ।

तस्मात् गर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ॥ शिवपुराण, वायवीय संहिता ३७/३३)

(ख) श्रीमद् भागवतपुराण ३/२८/६

— अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः (

जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥ (वही उ० ख० ३७/३३)

कहा गया है ॥ अगर्भं प्राणायाम से सगर्भं प्राणायाम सौ गुणा श्रेष्ठ माना गया है, इसीलिये योगी सगर्भं प्राणायाम करते हैं । +

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुराणों में ध्यान के महत्व की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। ध्यान के समान कोई तीर्थ नहीं है, ध्यान के समान कोई तप नहीं है और ध्यान के समान कोई यज्ञ नहीं है, इसलिये ध्यान को अवश्य ही करना चाहिये । ×

योगवाशिष्ठ में ध्यान:-

योगवाशिष्ठ वैदिक साहित्य का ही एक अङ्ग है। इस अति-प्राचीन ग्रंथ में योग का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। इसके छः प्रकरणों में योग के सब अङ्गों का वर्णन किया गया है। योगवाशिष्ठ के उपशम प्रकरण के छत्तीसवें सर्ग में ध्यान का वर्णन किया गया है वहाँ ध्यान के पर्यायरूप में समाधि का उल्लेख किया गया है। बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना इन्द्रियाँ, देह पदार्थ आदि को मन के रूप में ही माना गया है ॥ मन अत्यन्त शक्तिशाली होता है, यही पुरुषार्थ में सहायक होता है। जब योगी अपने मन को पूरी तरह से शान्त कर लेता है तभी तो उसको ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है।— यहाँ पर समाधि का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जो गुणों का समूह, गुणात्मक तत्त्व है वह समाधि है एवं जो इनको अनात्मरूप देखते हुए

॥ प्राणाख्यमननिलं वश्यमभ्यासात्कृते तु यत् ।

प्राणायामरूप विज्ञेयस्सबीजोऽबीज एव च ॥ [विष्णु पुराण, षष्ठ अंश ७/४०)

+ अगर्भाद् गर्भं संयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।

तस्मात्गर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राण संयमम् ॥ (शिवपुराण, वायवीय संहिता, उ. ख. ३७/३४)

+ नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यान समं तपः ।

नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद् ध्यानं समाचरेत् ॥
(शिवपुराण, वायवीय संहिता उ० ख० ३६/२८)

॥ योगवाशिष्ठ ६/११४/१७, ६/७/११, ६/१३६/१, ३/११०/४६

— वही ५/८६/६

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (२२)

अपने आपको केवल इनका साक्षीभूत चेतन जानता है, और जिसका चित्त स्वभावसत्ता में लगकर शीतल हो गया है वह समाधिस्थ कहलाता है । △

योगवाशिष्ठ में योग की तीन रीतियों का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार से है ।... १-एकतत्वघनाभ्यास, २- प्राणों का निरोध, ३- मनोनिरोध । ब्रह्माभ्यास के द्वारा अपने को उन्नी में लीन कर लेना एकतत्वघनाभ्यास कहलाता है । प्राणों के निरोध में प्राणायाम आदि की अपेक्षा की जाती है । मन के निरोध के द्वारा साधक अपनी समस्त इच्छाओं को पूरी तरह से शमन कर लेता है । × अविद्या दुखों का मूल कारण है, सम्यग्दर्शन के द्वारा अविद्या का नाश होता है । * आत्मा तो अविनाशी होती है, शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश होता है । शरीर का सम्बन्ध तो इन्द्रियों से है न कि आत्मा से । इन्द्रियों के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता । आत्मा और है और देह, मन प्राण इन्द्रिय और बुद्धि आदि यह कोई एक और ही विलक्षण भाव है । चित्त के उदय होने पर आत्मा अनात्मा बन जाता है । साधक को सम्यग्दर्शी को मोह नहीं होता, वह साक्षात् शरीर ही मोक्षरूप है । ✠ इस प्रकार से योगवाशिष्ठ योग का महाग्रन्थ कहलाता है ।

हठयोग:-

वैदिक संस्कृति से शुरु होकर ध्यान-योग अनेक संस्कृतियों में विभिन्न रूपों से गुजरता रहा । जब नदी में बाढ़ आती है तब वह चारों ओर से बहने लगती है, यही हाल योग के साथ हुआ, वह आसन मुद्रा, प्राणायाम एवं ध्यान आदि बाह्य अंगों में प्रवाहित होने लगा । बाह्य अंगों का भेद प्रभेद पूर्वक इतना अधिक वर्णन किया गया और

△ योग वाशिष्ठ उपशम प्रकरण, अध्याय ३६/१०

.... योगमनोविज्ञान, पृ० १२

× योगवाशिष्ठ ५/८

* प्राज्ञं विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शमाधयः ।

न दहन्ति वनं वर्षासिवतमग्निशिखा इव । (वही २/११/४१)

✠ वही ५/५१/१-५

उस पर इतना अधिक जोर दिया गया कि जिससे योग की एक शाखा अलग ही बन गई, जो हठयोग के नाम से प्रसिद्ध हुई।

हठयोग-सिद्धान्त की चर्चा योगतत्वोपनिषद् एवं शाण्डिल्योपनिषद् में भी है। हठयोग के आदि प्रवर्तक शिव माने जाते हैं। + हठयोग का अर्थ है— चन्द्र-सूर्य, इडा-पिंगला, प्राणअपान का मिलन अर्थात् ह=सूर्य, ठ=चन्द्र अर्थात् सूर्य और चन्द्र का संयोग।☀

हठयोग में शारीरिक विकास की ओर ज्यादा ध्यान दिया गया है क्योंकि अगर शरीर स्वस्थ होगा तो साधक का चित्त भी शान्त रहेगा और जब चित्त शान्त रहेगा तो वह ध्यान भी भली प्रकार से कर सकेगा। हठयोग में सात अङ्ग प्रमुख हैं—षट्कर्म, △ प्राणायाम, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान एवं समाधि। यहां आसन एव प्राणायाम को विशेष महत्व दिया गया है।* यहां बतलाया गया है कि हठयोग के बिना राजयोग नहीं हो सकता और राजयोग के बिना

+ श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनापदिष्टा हठयोगविद्या।

विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ (हठयोग-दीपिका १/१)

☀ (क) नत्वा साम्बं बह्मरूपं भाषायां योगबोधिका।

मया मिहिरचंद्रेण तन्यते हठदीपिका ॥ (वही १/१)

(ख) चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यां गे पुनरभ्यसेत्।

यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसंजयेत् ॥ (वही ३/१५)

= षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम्।

मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।

प्राणायामल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।

समाधिना निर्लिप्तश्च मुक्तिरेव न संशयः ॥ (धेरण्डसंहिता १/१०/११)

△ धीतिर्बस्तिस्तथा नैतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।

कपाल भातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ (हठयोग प्रदी-पिका २/२२)

* वही, टी० १/१७/१७

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (२४)

हठयोग नहीं सिद्ध हो सकता। × राजयोग की प्राप्ति के लिए साधक को कुम्भक प्राणायाम से प्राण का रोध कर अंत में अन्तःकरण को निराश्रय कर देना चाहिये इस अभ्यास से ही वह राजयोग की प्राप्ति करता है।... हठयोग का सम्बन्ध आत्मा एवं मन की अपेक्षा शरीर से ज्यादा माना गया है। × जब साधक की कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है तो उसका चित्त निरालम्ब एवं मृत्यु-भय से रहित हो जाता है और यही योगाभ्यास की जड़ है* इसी को कैलाश भी कहते हैं।—

हठयोग में समाधि का विशद वर्णन करते हुए उसके पर्यायों का भी वर्णन किया गया है।* जिस प्रकार से आत्मा में धारण किया हुआ मन आत्माकार होने से आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्मा और मन की एकता समाधि कहलाती है। जब प्राण भली प्रकार से क्षीण हो जाता है और मन का भी लय हो जाता है उस समय में हुई समरसता समाधि कहलाती है +

× अनगला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ।

हठं बिना राजयोगं विना हठः ।

न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तः समभ्यसेत् ॥ (वही ३/७६)

.... कुम्भक प्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।

एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ (हठयोग प्रदीपिका ३/७७)

× सन्त मत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० ६६-६८

* भारतीय संस्कृति और साधना, भाग २, पृ० ३६७

— अत ऊर्ध्व दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।

ब्रह्माण्ड व्यस्त देहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा ।

कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ॥ (शिवसहिता ५)

* राजयोगः समाधिश्च उन्मनो च मनोन्मनी ।

अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥

अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरंजनम् ।

जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ (हठयोग प्रदीपिका

४/३-४)

+ हठयोग प्रदीपिका ४/५-७

नाथयोगः—

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में नाथ-सम्प्रदाय के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। हठयोग के समान ही नाथ-सम्प्रदाय वालों ने सब नाथों में प्रथम आदिनाथ शिव को माना है। + इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ अथवा पुनर्स्थापन गोरखनाथ से हुआ है।☀ गोरखनाथ का समय १० वी— या ११ वी— शती से पूर्व माना गया है। नाथ सम्प्रदाय में 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुव-नत्रयका) स्थापित होना, इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण से 'नाथ' कहा जाता है।* 'ना' शब्द का अर्थ नाथ-ब्रह्म जो मोक्षदान में दक्ष है, उनका ज्ञान कराना है और 'थ' का अर्थ है। (अज्ञान का सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला भी किया गया है।×

ऐसी धारणा है कि शिव ने मत्स्येन्द्र नाथ को योग की शिक्षा दी थी और मत्स्येन्द्र नाथ ने गोरखनाथ को इसकी दीक्षा दी थी। नाथपन्थीय परम्परा इस प्रकार से मानी जाती है—आदिनाथ, मत्स्येन्द्र-नाथ, जालन्धरनाथ एवं गोरक्षनाथ... जिन्होंने इस सम्प्रदाय का

+ आदिनाथः सर्वेषां नाथानां प्रथमः, ततो नाथसम्प्रदायः प्रवृत्त इति नाथ संप्रदायिनो वदन्ति। (हठयोग प्रदीपिका, टी० (१—५)

☀ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति एण्ड अदर वक्स आफ नाथ योगीज पृ० ७
— वही पृ० १०

÷ गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज पृ० २३५—३६

* नाकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा।

भुवनत्रयमेवैकः श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते ॥ (सिद्ध सिद्धान्त पद्धति)

× [क] श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथब्रह्मानुबोधनात्।

स्थगिताज्ञान विभवात् श्री नाथ इति गीयते ॥ शक्ति संगम तन्त्र)

(ख) देदीप्यमानस्तत्त्वस्य कर्त्ता साक्षात् स्वयं शिवः।

संरक्षन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रयाः ॥ (सिद्ध सिद्धान्त पद्धति)

... नाथसम्प्रदाय, पृ० २६

(२६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

प्रवर्तन किया था ऐसे मूलनाथ नौ हुए है ये नौ नाथ कौन-कौन थे इस सम्बन्ध में एक मत प्राप्त नहीं हुआ है, 'महार्णव तन्त्र' में नवनाथों के नाम इस प्रकार बतलाये हैं।.... गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, नागाजुन सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जडभरत, आदिनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ । अनेक ग्रन्थों में नाथसम्प्रदाय का नाम मिलता है परन्तु यह पन्थ अलग-अलग नामों से भी जाना जाता है जैसे—सिद्धमत ×, सिद्धमार्ग ✱, योग मार्ग △, योग सम्प्रदाय—, तथा अवधूत सम्प्रदाय आदि ☼ नाथपथियों को कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है । इनका कनफटा नाम इस कारण पड़ा क्योंकि ये लोग कान फाड़कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं । +

इनके मत में योगमत और योग सम्प्रदाय नाम सार्थक ही है, क्योंकि इन लोगों का मुख्य धर्म योगाभ्यास ही है । इनके योगमार्ग की क्रियाएँ एवं साधना अधिकतर हठयोगियों से मिलती हैं । इसमें हठ-योग के दो भेद बतलाये गये हैं । प्रथम भेद में आसन, प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्मों का वर्णन है । आसनादि के द्वारा नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती है तथा इनमें पूरित वायु मन को निश्चल करता है जिसमें परमानन्द की प्राप्ति होती है । दूसरे भेद में कहा गया है कि नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को लगाकर श्वेत, पीत, रक्त एवं कृष्ण रंगों का ध्यान करना चाहिये । ऐसा करने से साधक चिरायु होता है तथा ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है । →

... हठयोग प्रदीपिका, पृ० ४

× गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, पृ० १२

✱ योगबीज ।

△ गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, पृ ५, २१

— वही, पृ० ५८

☼ अवधूत सम्प्रदाय, पृ० ५६

+ नाथ सम्प्रदाय, पृ० १०

→ हठाज्ज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत् ।

अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः ॥ (प्राणतोषिणी, पृ०

८३५)

इस योग में हठयोग तथा तन्त्रयोग के समान ही गुरु की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि गुरु की कृपा से ही संसार के बन्धन तोड़कर शिव की प्राप्ति सम्भव है + इस सम्प्रदाय में कुण्डलिनी शक्ति के महत्त्व को समझाते हुए कहा है कि हठयोगी प्राणवायु का निरोध करके कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करता है। जब कुण्डलिनी उद्बुद्ध हो जाती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और साधक शून्यपथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि को सुनने लगता है जो अखण्ड रूप से सारे ब्रह्माण्ड में ध्वनित हो रही है। प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी का उद्बोध सुकर हो जाता है। ☀ कुण्डलिनी के जागृत होने पर शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है तो इसी को पिण्ड ब्रह्माण्डैक्य भी कहते हैं, इसमें योगियों को परम काम्य कैवल्य अवस्था वाली सहज-समाधि प्राप्त होती है, जिससे बढ़कर आनन्द और नहीं है। यह सब गुरु की कृपा से होता है ज्ञान, वैराग्य एवं वेद पाठादि से नहीं।— इस प्रकार

+ (क) एवं विधु गुरो शब्दात् सर्वं चिन्ताविर्वर्जितः।

स्थित्वा मनोहरे देशे योगमेव समभ्यसेत् । (अमनस्कयोग १५)

(ख) सिद्ध सिद्धांत पद्धति एण्ड अदर वर्क्स आफ नाथ योगीज, पृ० ५,

५४-८०

☀ मूलकन्दोद्योतो वायुः सोमसूर्य पथोद्भवः ।

शक्तयाधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डक भेदकः ॥

मूलकन्दे तुव्यासक्ति कुण्डलाकाररूपिणी ।

उद्गमावर्तं वातोऽयं प्राण इत्युच्यते बुधैः ।

कंददण्डेन चोद्दण्डै भ्रामिता या भुजङ्गिनी ।

मूर्च्छिता सा शिवं वेत्ति प्राणैरेवं व्यवस्थिता ॥ (अमरौघशासनम्, पृ. ११)

= (क) उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।

कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्ष द्वारं प्रभेदयेत् ॥ (गौरक्ष पद्धति १४८)

(ख) भुष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभागवता हि सा ।

बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका ।

अपरा सर्वंगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता ।

तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेनतु ।

ततः सूक्ष्मा परासंबित् मध्य शक्तिमहेश्वरी ॥ (सिद्ध सिद्धांत

संग्रह ४/३०-३२)

(२८) जैनपरम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

नाथ सम्प्रदाय की योग साधना हठयोग के साथ साथ पातञ्जल योग से भी मिलती जुलती है। शिव और शक्ति का मिलन ही इस योग का ध्येय है।....

शैवागम एवं ध्यान:-

शैवागम शिव के पाँच मुखों से निकली हुई अनुभूतियों का साहित्य है। शैवागमों के विषय में स्वयं शिव अपने मुख से कहते हैं- जो कुछ जगत में है, देखा सुना जाता है, अनुभूत होता है, वह सब शिव शासन से ही चल रहा है। शैवी विद्या पराविद्या विद्या है, जो पशु को पाशमुक्त करा देती है। × शैवागमों का मूलाधार शैव-संस्कृति है। इसमें मूलतः पूरे स्वरूप को शिव और परमशिव नाम से सम्बोधित किया गया है। * यह शिव पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। शिव की विश्व अन्तर्यामी दशा तो वह दशा है जिसमें मैं शिव हूँ। यह भी शिव ही है। तुम भी शिव हो। सब कुछ शिवमय है, शिव के अतिरिक्त कुछ नहीं है। △ शिव तत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि शिव की इच्छा से जो प्रेरणा उत्पन्न हुई वह शिव तत्त्व है = एवं प्रणव भी शिवतत्त्व है, क्योंकि ओम् (प्रणव) में अ-उ-म् ये तीनों अक्षर हैं। अ से आत्मतत्त्व, उ से विद्यातत्त्व और म से शिव तत्त्व का क्रम माना गया है। यह शिव परम अखण्ड महाप्रकाश स्वरूप है और इसे समस्त सृष्टि-स्थिति का केन्द्र माना जाता है। इस केन्द्र बिन्दु से निकले हुए पाँच बिन्दु ही शिव के पाँच मुख हैं-

.... शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तैरभ्यन्तरः शिवः ।

अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ (सिद्ध सिद्धांत पद्धति ४/२६)

× शैव दर्शन तत्त्व, पृ० ७६

* वही पृ० २१७

△ अहं शिवः शिवश्चायं त्वं चापि शिव एवहि ।

सर्वं शिवमयं ब्रह्म शिवात् परं न किंचन ॥ (वही, पृ० २१८)

= (क निजेच्छया जगत् सृष्टुमद्युक्तस्य महेशितुः ।

प्रथमो यः परिस्पन्दः शिवतत्त्वं तदुच्यते ॥

(शिवपुराण, कै० स० १६ अध्याय)

(ख) 'शिवतत्त्वं मकारः स्यादायदेवेति चिन्त्यताम्' (शैवदर्शन तत्त्व, पृ० २१६)

सद्योयान, २- वामदेव, ३- अधोर, ४- ईशान्य, तथा ५- तत्त्वांश+
 शैवधर्म के तत्व को चार भागों में विभक्त किया गया है। वे
 चारों तत्व इस प्रकार से हैं☀-१-ज्ञान, २- क्रिया, ३- चर्या तथा
 ४- योग। कुण्डलिनी शक्ति की साधना शैवागमों का प्रिय विषय
 रहा है। कुण्डलिनी शक्ति को वे आधार शक्ति मानते, थे जिसमें
 संकोच और प्रसार की क्रियाएँ होती हैं। ये क्रियाएँ ऊर्ध्व गति
 और अधोगति को पहुँचाने वाली हैं। कुण्डलिनी जागरण-आसन,
 प्राणायाम, मलशोधन, नाडिशोधन आदि सब कुछ स्वतः ही हो
 जाता है एवं शिव शक्ति का सामंजस्य भी हो जाता है इसी को
 परब्रह्म में लीन होना कहते हैं।— यहाँ पर जीव को सामान्य
 तथा पशु के समान माना गया है, जो तीन मलों से आवृत है।
 ये तीन मल आणव, माया और कर्म हैं।△ साधक का इन मला-
 वरणों को हटाकर स्वरूप को प्राप्त होना ही मोक्ष कहलाता
 है।*

परमार्थ सार में शिवयोगी के लिए समाधि उत्थान को जरूरी
 नहीं बतलाया गया अपितु वह स्वयं शिवस्वरूप में स्थित होता है।

+ तन्त्रालोक, कण्ठसंहिता, भाग १, पृ० ३७-३८

☀ पशुपाशपतिज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते।

षड्वशुद्विविधिना गुवा धीना क्रियोच्यते ॥

वर्णाश्रमप्रयुक्तश्चमयैव विहितस्य च।

चर्यार्चनादि धर्मस्य चर्याचर्येति कथ्यते ॥

यदुक्तेनैव मार्गेण मय्यवस्थितचेतसः।

वृत्त्यन्तरनिरोधीयो योग इत्यभिधीयते ॥

(पाशुपत सिद्धांते, उद्धृत शैव दर्शन तत्व, ८४)

= आसनाभ्यसनं लक्ष्यं प्राणायामद्वितीयकम्।

मलसंशोधनं नाडिचक्रे चक्रविभेदनम् ॥

शम्भो वियुक्ता या शक्तिः शम्भवी दिव्यरूपिणी।

तत्संयोगः परं लक्ष्यं पर ब्रह्मणि लीनता ॥ (सिद्धामृत कु०म०यो०)

△ आणव-मायीय-कर्ममलावृतत्वात् त्रिमयः। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ. १५)

* तन्त्रालोक १/६२

[३०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

इसके अनुसार साधना की अनुभूति को विशेष स्थान प्राप्त है।... चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। इस मत को सभी शैवागमों ने अपनाया है। X इन्होंने परमात्मा के पाँच कृत्य माने हैं—१ सृष्टि २- स्थिति, ३- संहार, ४- अनुग्रह तथा ५- विलय।* इन कृत्यों को निरन्तरता अव्याहत है। यह वस्तुतः परमात्मा का ही खेल है। इससे जीव अपने में अभाव का बोध करता है एवं उसमें स्वरूप बोध की आन्तरिक इच्छा बलवती होती है। सुप्त या सोयी हुई शक्ति का शिव से मिलन ही योग है।

पातञ्जल योगदर्शन में ध्यानः—

योग साधना में महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र का स्थान सर्वोपरि है। योग प्रक्रिया का वर्णन करने वाले जितने भी छोटे बड़े ग्रन्थ हैं, उन सबमें महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन का आसन ऊँचा है। श्री शंकरा-चायं ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में योगदर्शन का प्रतिवाद करते हुए जो 'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः' ऐसा उल्लेख किया है। Δ पातञ्जल योग सांख्य सिद्धान्त की नींव पर खड़ा है। महर्षि पतञ्जलि का योग-सूत्र चार पादों में विभक्त है। प्रथम पाद का नाम समाधि पाद है जिसमें योग के लक्षण, स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद का नाम साधनापाद है जिसमें दुःखों के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय पाद जिसका नाम विभूतिपाद है, में धारणा, ध्यान एवं समाधि का वर्णन किया गया है तथा चतुर्थ कंवल्यपाद में चित्त के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसमें ध्यान की परिभाषा एक सूत्र में ही वर्णित है, वहाँ एक ही ध्येय में एकता-नता, चित्त वृत्ति का एकरूप तथा एक रस बने रहना ध्यान है। +

.... परमार्थसार ५६-६०

X शैव दर्शन तत्त्व, पृ० ८५

* तथापि तद्वत् पंचकृत्यानि करोति।

सृष्टि संहारकर्तारं विलय स्थिति कारकम्।

अनुग्रहकरं देवंप्रणतार्ति विनाशनम्। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ३२)

Δ ब्रह्मसूत्र २-१-३ भाष्यगत।

+ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। योगसूत्र ३/२

अतः चित्त की एकाग्रता के लिए चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध जरूरी है है चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग है ।☀ ये वृत्तियां संसार में प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न होती हैं जी धर्माधर्म तथा वासनाओं आदि को जन्म देती हैं । चित्त की ये वृत्तियां पाँच प्रकार की हैं = १- प्रमाण, २- विषयंय, ३- विकल्प, ४- निद्रा तथा ५- स्मृति ।

जिनके द्वारा मनुष्य विविध ज्ञान अर्जित करता है, वे प्रमाण हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द आदि प्रमाण कहलाते हैं । इन वृत्तियों के अतिरिक्त 'योगसूत्र' में क्लेश के निरोध का वर्णन किया गया है । क्लेश के भी पाँच भेद हैं ।△ १- अविद्या, २- अमिता ३- राग, ४- द्वेष तथा ५- अभिनिवेश । समस्त वृत्तियों एवं क्लेशों के निरोध के लिए दो साधन बतलाये गये हैं १- अभ्यास तथा २- वैराग्य ।☀ पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार चित्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास से ही हो सकता है । अगर उसमें वैराग्य ही कारण हो, तो सिद्धियों की प्राप्ति कैसे होगी । अर्थात् अगर भीतर रहते हुए चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तो उसमें राग के कारण सिद्धियां प्रकट होती है, क्योंकि संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) किसी न किसी सिद्धि के लिए किया जाता है... और जहाँ सिद्धि का उद्देश्य है, वहाँ राग का अभाव कैसे हो सकता है? परन्तु जहाँ केवल पर-मात्म तत्त्व का उद्देश्य होता है, वहाँ ये धारणा, ध्यान एवं समाधि भी सहायक हो जाते हैं । मन की स्थिरता के लिए बहुत बार प्रयास करना अभ्यास कहलाता है× एवं लौकिक-अलौकिक विषयों के प्रति मोह या भ्रमत्व का न होना वैराग्य कहलाता है ।☀

☀ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । योगसूत्र १/२

= प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । वही १/७

△ अविद्यास्मितारागअभिनिवेशाः क्लेशाः । वही २/३

☀ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । वही १/१२

... त्रयमेकत्र संयमः । योगसूत्र ३/४

× तत्र स्त्रितौ यत्नोऽभ्यासः । वही १/१३

☀ दृष्टानुश्रविक विषयधितृष्णस्य बशीकार संशा वैराग्यम् । वही १/१५

(३२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

महर्षि पतञ्जलि ने अष्टांग योग में ध्यान को सातवें क्रम में रखा है— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। Δ किन्तु इसका मतलब यह नहीं निकलता कि प्रत्येक अंग अपने में पूर्ण है। अगर देखें जाय तो पता चलता है कि स्वतन्त्र रूप से इन अंगों का अपना कोई अस्तित्व नहीं रह पाता। ये अंग तो मात्र साधना की दृष्टि से किये गये हैं कि जिनसे साधक क्रमशः मन, बचन एवं का की शुद्धि करता हुआ बढ़ता है। जैसे ध्यान से पहले धारणा के विषय में बतलाया गया है क्योंकि धारणा के बाद ही ध्यान की स्थिति आती है। धारणा में चित्त को एकाग्र करने के लिए चित्त वृत्तियों को बाँधने का अभ्यास किया जाता है। नाभि, हृदय, शिर, नासिका आदि किसी में भी अपनी सुविधा के अनुसार चित्त को बाँधा जाता है।— धारणा की परिपक्व अवस्था ध्यान की अवस्था कहलाती है। ध्यान में ध्येय को देखा जाता है लेकिन जब ध्यान की इस अभ्यास प्रक्रिया में केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है तब वही ध्यान समाधि बन जाता है। + समाधि योग साधना की अन्तिम एवं चरम अवस्था है जिसमें आलम्बन के आभास से रहित ध्यान और ध्येय अलग-अलग भाषित होते हैं। \odot

समाधि को दो अवस्थाओं में विभक्त किया गया है १- सम्प्रज्ञात समाधि तथा २- असम्प्रज्ञात समाधि। एकाग्र भूमि में एक वस्तु के सतत में भाव लगे रहना सम्प्रज्ञात समाधि है। असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत सभी वृत्तियों का पूर्णतः निरोध आवश्यक है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद किये गये हैं— १- वितर्कानुगत,

Δ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि। योगसूत्र २/२७

— देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। वही ३/१

+ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपं शून्यमिव समाधिः। योगसूत्र ३/३
 \odot समाधिर्ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेस्वरूपं शून्यमिव यदा भवति ध्येय स्वभावावेशा तदासमाधिरित्युच्यते। वही ३, व्यास भाष्य)

२- विचारानुगत, ३- आनन्दानुगत तथा ४- अस्मितानुगत ।—

सम्प्रज्ञात-समाधि 'सबीज-समाधि' कहलाती है। इसका मूल कारण है कि इसमें अविद्यादि क्लेश कर्मों के बीज नष्ट नहीं हो पाते हैं। ध्याता और ध्येय की प्रतीति बने रहने के कारण समाधि की यह अवस्था पूर्ण योग को प्राप्त नहीं होती है। जबकि असम्प्रज्ञात समाधि में ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों एक रूप हो जाते हैं, यह निर्बीज समाधि भी कहलाती है क्योंकि इसमें सामस्त क्लेशों के बीज हो जाते हैं। Δ चित्त की वृत्तियों के निरोध हो जाने से आत्मा अपने स्वरूप हो जाती है। \otimes साधना की यह स्थिति ध्यान की सर्वोत्कृष्ट स्थिति कहलाती है।

अद्वैत वेदान्त में ध्यान:—

भारतीय दर्शनों में वेदान्त का प्रमुख स्थान है। यह दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यवहारिक भी है। 'वेदान्त' का शाब्दिक अर्थ है 'वेदों का अन्त'। आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार 'वेदान्त' का पद का तात्पर्य वेदादि के विधिपूर्वक अध्ययन, मनन तथा उपासना आदि के अन्त में जो तत्व जाना जाये उस तत्व का विशेष रूप से जहां निरुमण किया गया हो, उस शास्त्र को 'वेदान्त' कहते हैं।....

अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया के चक्कर में पड़कर ही जीव भव भ्रमण करता है लेकिन अगर साधक आत्म दर्शन में मग्न रहकर योगारूढ़ हो जाता है तो वह इस संसार से पार हो सकता है। \times योग का उद्देश्य आत्मा पर पड़े हुए अविद्या के पर्दे को हटाना है। इसी अविद्या के कारण जीव अपनी चित्त शक्ति को पहचान नहीं पाता है। इस आवरण को हटाने के लिए

— वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः । योगसूत्र १/१७

Δ तस्यापि निरोधे सर्वं निरोधान्निर्बीजः समाधिः । वही १/५१

\otimes तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । योगदर्शन १/३

.... वेदान्त दर्शन का इतिहास, पृ० १

\times उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।

योगारूढत्व मासाद्य साम्यदर्शननिष्ठाया ॥ (विवेकचूडामणि ९)

वेदान्त में साधन चतुष्टय बतलाये गये हैं जो इस प्रकार से हैं → १- नित्यानित्य वस्तुविवेक, २- वैराग्य, ३- षट्सम्पत्तियाँ-शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा या समाधान, तथा ४- मुमुक्षुत्व। इन साधन चतुष्टय के द्वारा साधक अपने अज्ञान को दूर करता है। वेदान्त की साधना ज्ञान से होती है, इसलिए श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन Δ द्वारा ज्ञान प्राप्त करके साधक भव सागर को पार करता है।

अद्वैत वेदान्त आत्मा को ब्रह्म से भिन्न नहीं मानता है, वहाँ ब्रह्म को सम्पूर्ण सृष्टि का आधार मानते हुए दो रूपों में वर्णित किया गया है- १- सगुण तथा २- निर्गुण। निर्गुण रूप ही उसका वास्तविक रूप है। वह सब प्रकार के गुणों से रहित होने के कारण निष्क्रिय है। ब्रह्म की सिद्धि अनुमान द्वारा नहीं हो सकती। हमारे शरीर में स्थित जो आन्तरिक चेतन तत्व है वही आत्मा है। ब्रह्म के सगुण रूप का एकनिष्ठ ध्यान करना और उनमें लीन होना ही योग का वास्तविक स्वरूप है... वेदान्त सार में समाधि के दो प्रकार बतलाये गये हैं- १- सविकल्पक तथा २- निर्विकल्पक। × निर्विकल्पक समाधि के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि ये आठ बतलाये गये हैं। * वहाँ ब्रह्म और आत्मा में रुक-रुककर अन्तःकरण की वृत्ति के प्रवाह को ध्यान कहा गया है। ☀ श्रद्धा, भक्ति,

→ (क) साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफल भोग विराग समादिषट्सम्पत्ति मुमुक्षुत्वानि ।

(ख) आदौ नित्यानित्य वस्तुविवेकः परिगण्यते ।

इहात्रमुफलभोगविरागस्तदनन्तरम् ।

समादिषट्सम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ॥ (विवेकचूड़ामणि १६)

Δ ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्वध्यानं चिरं नित्य निरंतरं मुनेः । वही ७० ... योगमनोविज्ञान, पृ० २६

× समाधिद्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति। (वेदान्तसार १८७)

* अस्याङ्गानि यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयः (वही १६१)

☀ तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रिय वृत्तिप्रवाहो ध्यानम् । (वही १६८)

ध्यान और योग मुक्ति के कारण हैं और इनसे ही देह बन्धन का उवच्छेद होता है।*

अद्वैत वेदान्त का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से होती है, कर्म से नहीं।☀ मोक्ष तो स्वयं आत्मा का स्वरूप है, वह पहले से ही सिद्ध है, अतः कर्म द्वारा उसे प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अज्ञान रूपी आवरण होने के कारण उसकी प्रतीति नहीं होती। ज्ञान के प्रकाश से वह प्रगट हो जाता है और उसकी यही प्राप्ति मोक्ष ही है।.... जब साधक इस स्थिति में पहुँचता है तो उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और उसे सर्वत्र ब्रह्म ही भासित होता है।

बौद्ध धर्म में ध्यान:-

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान में 'ध्यान' और 'समाधि' शब्द शब्द का प्रयोग मिलता है। ध्यान बौद्ध धर्म का हृदय है। बौद्ध साधना पद्धति में ध्यान का अर्थ किसी विषय पर चिन्तन करना है।+ परन्तु अभ्यास के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है, चित्त का अभ्यास ही ध्यान है।× बाह्य विषयों की आसक्ति से मुक्त होना ही ध्यान है।*

बोध प्राप्त होने से पूर्व तथागत बुद्ध ने श्वासोच्छ्वास का निरोध करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने शिष्य से कहा कि मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था। इसलिये मैं मुख, नाक एवं कर्णों से निकलते हुए सांस को रोकने का, उसे निरोध करने का प्रयत्न करता रहा।△ लेकिन इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इस-

☀ श्रद्धा भक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षोर्मुक्तेर्हेतून्वक्ति :

यो वा एतेष्वेव तिष्ठन्न्यमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पितादेहबन्धात् ॥
(विवेक चूडामणि ४६)

☀ ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् १/१/४

.... अविद्यास्त भयो मोक्षः सा बन्ध उदाहृतः । (सर्वदर्शनसंग्रह
पृ० ७६३)

+ समन्तपासादिका, पृ० १४५-१४६

× ध्यान सम्प्रदाय, पृ० ८१

* दि सूत्र आं-वे-लेंग, पृ ४७

△ अंगुत्तर निकाय ६३

लिए उन्होंने अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया।— यहाँ प्रत्याहार ध्यान, धारणा, प्राणायाम, अनुस्मृति एवं समाधि योग के इन छः अंगों में प्राणायाम को महत्व दिया गया है।

बौद्ध योग में 'समाधि' का महत्वपूर्ण स्थान है। इसको प्राप्त करने के लिए 'ध्यान' का प्रतिपादन किया गया है। + ध्यान चार प्रकार का बतलाया गया है १- वितर्क-विचार-प्रीति-सुख, एकाग्रतासहित, २- प्रीति-सुख-एकाग्रतासहित, ३- सुख एकाग्रता-सहित तथा ४- एकाग्रता सहित। → जब साधक साधना करते हुए ध्यान की तीसरी अवस्था को प्राप्त करता है तो इसमें सुख एवं एकाग्रता ही शेष रह जाती है। साधक ध्यान की इस अवस्था तक पहुँच जाता है तो उसके भीतर उपेक्षा का भाव जाग्रत होने लगता है, जिससे चित्त में सौम्यता एवं समता का भाव उदय होने लगता है। इन उपेक्षाओं की दस अवस्थायें-षडंग, ब्रह्मविहार, उदय बोध्यंग, वीर्य, संस्कार, वेदना विपश्यना, माध्यस्थ, ध्यान और परिशुद्धि होती है + साधक एक एक करके इन उपेक्षाओं को धारण करता जाता है, परन्तु इस अवस्था में आंशिक रूप से भौतिक सुख की अनुभूति बनी रहती है इसलिये उसके भीतर समाधि के प्रति उदासीनता का भय बना रहता है लेकिन साधक जब इस अवस्था को पार कर लेता है तो उसकी चतुर्थ अवस्था प्रारम्भ हो जाती है और यह अवस्था ध्यान की चरम अवस्था है। इसमें केवल एकाग्रता ही शेष रह जाती है। ध्यान की एकाग्रता के लिए साधक को आचार-विचार एवं नीति

— (क) संयुक्त निकाय ५, १०

(ख) विभाग ३१७-२८

☀ प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथधारणा ।

अनुस्मृति : समाधिश्च षडंगयोग उच्यते ॥ (शैकोद्देश टीका, पृ० ३०)

+ दीघनिकाय, १/२, पृ० २८-२९

→ मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, सामञ्जालफलसुत्त, बुद्धलीलासार संग्रह, पृ० १२८, समाधि मार्ग, पृ० १५

+ विशुद्धिमग्गो, दीघनिकाय ।

नियमों का पूरी तरह से पालन करना चाहिए, क्योंकि संयम के बिना ध्यान अथवा समाधि लगाना फूटे षड़े में पानी भरने के समान व्यर्थ है। जब साधक चित्त को एकाग्र कर लेता है तो वह समाधि-मार्ग में प्रवेश कर लेता है।

इस प्रकार साधक अपने साधना पथ पर स्थूल सूक्ष्म की से ओर बढ़ता चला जाता है। वास्तव में ध्यान की यह प्रक्रिया एक जंजीर में गुत्थी हुई प्रक्रिया है, जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलती है, जिसके द्वारा साधक पूर्ण शील, पूर्ण समाधि एवं पूर्ण प्रज्ञा की प्राप्ति में सफल हो जाता है।

-: o :-



द्वितीय परिच्छेद

ध्यान का प्ररूपक जैन साहित्य

संस्कृत साहित्य का विशाल भण्डार प्राचीन काल के तीन प्रमुख सम्प्रदायों वैदिक, जैन एवं बौद्ध सम्प्रदाय के विद्वानों के अथक प्रयास एवं लगन से समृद्ध हुआ है। वैदिक सम्प्रदाय के समान जैन सम्प्रदाय का संस्कृत साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन मनीषियों ने आध्यात्मिक विषय में भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि भाषाओं में ग्रन्थ लिखे हैं। जैनागमों में योग के स्थान पर 'ध्यान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कुछ आगम ग्रन्थों में ध्यान के लक्षण, भेद प्रभेद आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।+ आगम के बाद नियुक्ति का क्रम आता है। उनमें भी आगम में वर्णित ध्यान का ही स्पष्टीकरण किया गया है।☀

आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में ध्यान का वर्णन किया है, परन्तु उनका वर्णन आगम से भिन्न नहीं है।— उन्होंने आगम एवं नियुक्ति में वर्णित विषय से कुछ अधिक नहीं कहा है। जिन भद्रगणी क्षमाश्रमण का 'ध्यान शतक' आगम की शैली में लिखा गया है।* आगम युग से लेकर यहाँ तक योग विषयक वर्णन में आगम शैली की ही प्रमुखता रही है षट्खण्डागम की धवला टीका में भी ध्यान विषयक प्रभूत

+ (क) स्थानाङ्ग सूत्र, ४, १

[ख] समवायांग सूत्र ४,

(ग) भगवती सूत्र, २५.७ ; (घ) उत्तराध्ययन सूत्र, ३०, ३५

☀ आवश्यक नियुक्ति, कायोत्सर्ग अध्ययन, १४६२-८६

— तत्त्वार्थ सूत्र, ६, २७

* हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति, पृष्ठ ५८१

X षट्खण्डागम, धवला टीका, १४/५/४/२६/१२/६४

सामग्री है। × परन्तु आचार्य हरिभद्र ने परम्परा से चली आ रही वर्णन शैली को परिस्थिति एवं लोकरुचि के अनुरूप नया मोड़ देकर अभिनव परिभाषा करके जैन योग साहित्य में अभिनव युग को जन्म दिया। नीचे हम ध्यान के प्ररूपक प्रमुख ग्रन्थों का परिचय दे रहे हैं।

मूलाचारः—

आचार्य वट्टकेर विरचित मूलाचार मुनि आचार विषयक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह बारह अधिकारों में विभक्त है। उसके पंचाचार नामक पांचवे अधिकार में तप आचार की प्ररूपणा करते हुए आभ्यन्तर तप के जो छह भेद निर्दिष्ट किये गये हैं उसमें पाँचवा ध्यान है। इस ध्यान की वहाँ संक्षेप में प्ररूपणा की गई है। वहाँ सर्वप्रथम ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म्य व शुक्ल इन चार भेदों का निरूपण किया है तथा रौद्र व आर्त ध्यान को अप्राप्त तथा धर्म, एवं शुक्ल ध्यान को प्रशस्त बतलाया है तथा इन दोनों ध्यानों को ही मोक्ष का हेतु कहा है। आगे इन चार भेदों के प्रभेदों का वर्णन किया है। आचार्य वट्टकेर का समय लगभग—प्रथम—द्वितीय शती माना जाता है। यह ग्रन्थ प्राकृत गाथा बद्ध है।...

भगवती आराधनाः—

इस ग्रन्थ के कर्ता शिवार्य या शिवकोटि नाम के आचार्य हैं, जिन्होंने ग्रन्थ के अन्त में आर्य जिननन्दिगणी सर्वगुप्तगणी और आर्यमित्रनन्दि का अपने विद्या अथवा शिक्षा गुरु के रूप में उल्लेख किया किया है। × यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपरूप चार आराधनाओं पर, (जो मुक्ति को प्राप्त कराने वाली हैं) एक अति महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है, जो जैन समाज में सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ मुनिधर्म से सम्बन्ध रखता है। जैन धर्म में समाधिपूर्वक मरण की सर्वोपरि विशेषता है। मुनि ही या श्रावक सभी का लक्ष्य उसी ओर रहता है। भगवती आराधना ग्रन्थ मरण के भेद—प्रभेदों से भरा पड़ा है। इसमें मरण के पाँच भेद बतलाये

.... जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग—३

× जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ४८५ (प० जुगल—किन्नोर मुस्तार)

(४०) जैन परम्परा में ध्यान : एक समीक्षात्मक अध्ययन

हैं जिनमें प्रारम्भ के तीन प्रशस्त तथा शेष अप्रशस्त हैं । इसमें ध्यान के चार प्रकार बतलाये हैं और उनके भेद-प्रभेदों का भी वर्णन किया गया है । इस ग्रन्थ पर संस्कृत प्राकृत और हिन्दी की कितनी ही टीका टिप्पणियाँ लिखी गई है जिनमें 'अराजित सूरि' कृत 'विजयोदया' टीका काफी ख्याति प्राप्त है ।

स्थानाङ्ग सूत्र:-

आचारादि बारह अङ्गों में स्थानाङ्ग तीसरा अङ्ग है । वर्तमान में वह जिस रूप में उपलब्ध है उसका संकलन बलभी बाचना के समय देवद्विगणि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में वीर निर्वाण के बाद ६८० वर्ष के आसपास हुआ है । उसमें दस अध्ययन या प्रकरण हैं, जिनमें यथा-क्रम से १, २, ३ आदि १० पर्यन्त पदार्थों व क्रियाओं का निरूपण किया गया है । जैसे प्रथम स्थानक में एक आत्मा है एक दण्ड है, एक क्रिया है, एक लोक है; इत्यादि । +

चौथे स्थानक में ४-४ पदार्थों का निरूपण किया गया है तथा चार प्रकार के ध्यान का भी वर्णन किया है तत्पश्चात् उनमें से प्रत्येक के भी चार-चार भेदों का वर्णन है ।

ओषपातिक सूत्र:-

यह ग्रन्थ स्थानाङ्ग सूत्र से काफी मिलता-जुलता है । ध्यान विषयक जो सन्दर्भ स्थानाङ्ग में प:या जाता है वह सब प्रायः शब्दशः उसी रूप ओषपातिक सूत्र में भी उपलब्ध होता है । ☀
उनमें साधारण शब्द भेद व क्रम भेद है ।

ध्यान शतक:-

ध्यान शतक एक अति प्राचीन ग्रन्थ है । इसके रचयिता जिनभद्र-गणि क्षयाश्रमण है । यह ग्रन्थ आगम शैली में लिखा गया है इस पर 'हरिभद्र सूरि' की टीका भी है । इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है । श्री पं० दलमुखभाई मालवणिया का मन्तव्य है कि ध्यान शतक के रचयिता के रूप में यद्यपि जिनभद्र गणि से नाम का

+ एगे आया । एगे दंडे । एगा किरिया । एगे लोए । (स्थानाङ्ग १, सूत्र १-४)

☀ ओषपातिक २०, पृ० ४३

निर्देश देखा जाता है, पर वह सम्भव नहीं दिखता है। इसका कारण यह है कि हरिभद्र सूरि ने अपनी आवश्यक नियुक्ति की टीका में समस्त ध्यान शतक को शास्त्रान्तर स्वीकार किया है तथा समस्त गाथाओं की व्याख्या स्वयं की है, पर यह किसके द्वारा रचा गया है इसके सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा है। इसके अतिरिक्त हरिभद्र सूरि की उक्त टीका पर टिप्पणी लिखने वाले आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने भी उसके रचयिता के विषय में कोई भी टिप्पणी नहीं की।—

प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान के चारों प्रकारों का वर्णन है। प्रथम दो ध्यान आर्त और रौद्र कषाय तथा वासनाओं को बढ़ाते हैं, ये अप्रशस्त ध्यान हैं तथा अन्य दो ध्यान धर्म्य और शुक्ल प्रशस्त ध्यान हैं एवं मोक्ष के कारण भूत हैं। धर्म्य ध्यानमोक्ष का सीधा कारण नहीं है। वह शुक्ल ध्यान का सहयोगी मात्र है। शुक्ल ध्यान मोक्ष का सीधा कारण है। × इस ग्रन्थ में बतलाया गया है कि जीव को कषायें, वासनायें एवं लेश्यायें कैसे बाँधती हैं। इसमें आसन, प्राणायाम, अनु-प्रेक्षाओं का भी वर्णन है।

तत्त्वार्थ सूत्रः—

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य उमास्वाति या उमास्वामी है। इनका समय विक्रम की पहली और चौथी शती के बीच में आँका जाता है। * इस ग्रन्थ को देखकर ऐसा लगता है कि मानो सारा जैन दर्शन इसमें समाविष्ट हो गया हो। इस ग्रन्थ पर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नाओं के आचार्यों ने अनेक टीकायें व भाष्य लिखे हैं। Δ यह मोक्ष मार्ग को दर्शाने वाला एक अद्वितीय सूत्र ग्रन्थ है। इसमें दस अध्याय हैं। पहले अध्याय में ज्ञान एवं क्रिया का वर्णन है। दूसरे से लेकर पाँचवे अध्याय तक ज्ञेय का और छठे से लेकर दसवें तक चरित्र का वर्णन है। ध्यान के निरूपण में प्रायः चारित्र्य का ही वर्णन होता है क्योंकि

... गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ० ४५

× शुक्लशुचि निर्मलं सकलकर्मक्षयहेतुत्वाद् । (योगशास्त्र प्रकाश ४, श्लोक १५, स्वोपज्ञ विवरण)

* तत्त्वार्थ सूत्र (पं० सुखलाल-विवेचन] प्रस्तावना, पृ० ६

Δ वही पृ० ६

[४२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

चारित्र के पालन से ही आध्यात्मिक विकास होता है। इसके नौवें अध्याय में ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है।

मोक्षपाहुड़ः—

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इनका समय अनुमानतः ई० पू० द्वितीय शताब्दी के आसपास है।+ यह एक बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें जैन योग सम्बन्धी बहुत सी महत्वपूर्ण बातों का वर्णन है। इसको गाथा संख्या १०६ है। इसमें आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा ऐसे तीन भेद, तथा उनके स्वरूप को समझाया है और बताया है कि मिथ्यात्व के कारण जीव की कैसी दशा होती है। बिना कषायों पर विजय प्राप्त किये मनुष्य मुक्ति अथवा परमपद प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मध्यान में प्रवृत्त होने से ही कषायों का पर्दा हटता है क्योंकि इसमें सभी आस्रवों का निरोध होता है। एवं संवर तथा निर्जरा से समस्त संचित कर्मों का नाश होता है। मुनि के लिए पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति आदि चरित्र का भी वर्णन है। बहुत से योगीजन विषय एवं वासनाओं से मोहित होकर अपना तप भ्रष्ट कर देते हैं, अतः योगी मुनि को ध्यान-साधना में सावधान रहने के लिए कहा है। मोक्षपाहुड़ पर श्रुतसागरसूरि की टीका भी उपलब्ध है।

समाधि तन्त्रः—

इस ग्रन्थ के रचयिता श्री पूज्यपादाचार्य हैं। इसमें इन्होंने आत्मा के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। मनुष्य में ज्ञान का होना जरूरी बताया गया है तथा आत्मज्ञान के बिना तप व्यर्थ है उससे मनुष्य की मुक्ति नहीं हो सकती इसका उल्लेख किया है।= आचार्य पूज्यपाद का समय विक्रम की पाँचवीं छठी शती है।△ इस लघुकाय, किन्तु महत्वपूर्ण ग्रन्थ में ध्यान तथा समाधि द्वारा आत्म-तत्त्व को पहचानने के उपायों का सुन्दर विवेचन किया गया है।

+ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, प्रस्तावना, पृ० ७०

☀ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ६४

= समाधि तन्त्र, गाथा ३३

△ इष्टोपदेश, पृ० ६

इष्टोपदेश:-

योगविषयक आचार्य पूज्यपाद की यह दूसरी रचना है। यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इष्टोपदेश ५१ श्लोकों की एक छोटी सी रचना है। इसमें ध्यान के चार प्रकार बतलाये गये हैं। इसके साथ-साथ साधक की उन भावनाओं का भी उल्लेख है, जिनके चिन्तन से वह अपनी चंचल वृत्तियों को तजकर अध्यात्म मार्ग में लीन होता है तथा बाह्य व्यवहारों का निरोध करके आत्मानुष्ठान में स्थिर होकर परमानन्द की प्राप्ति करता है।

पंचास्तिकाय-

यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस ग्रन्थ में १७३ गाथायें हैं। इसमें काल द्रव्य से भिन्न जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश नाम के पाँच द्रव्यों का विशेष रूप से वर्णन है। पाँच अस्तिकायों के स्वरूप का ध्यान संस्थानक्वच्य धर्म ध्यान के अतर्गत आता है। इस ग्रन्थ पर अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य की खास संस्कृत टीका है तथा कुछ टीकाएँ कन्नड़, हिन्दी आदि की भी उपलब्ध हैं।....

समयसार

यह ग्रन्थ भी आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ का विषय शुद्ध आत्मतत्त्व है। जो कि ध्याता का प्रमुख लक्ष्य है। इसमें आत्मा के तीन भेद बतलाते हुए उनके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। यह ग्रन्थ अपने विषय में बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है। इसमें ४१५ गाथायें हैं। इस पर भी अमृतचन्द्राचार्य एवं जयसेन कृत संस्कृत टीकायें हैं। × अमृतचन्द्राचार्य की टीकानुसार इसमें ४१५ गाथायें हैं, जबकि जयसेनाचार्यानुसार इसमें ४३६ गाथायें हैं।

परमात्म प्रकाश-

इस अपभ्रंश ग्रन्थ के रचयिता योगीन्दु देव हैं। डा० हीरालाल ... जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ६१
× 'अनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग ४

(४४) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जैन और डॉ० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार इस ग्रन्थ का समय अनुमानतः ई० छठी शताब्दी है। इस ग्रन्थ में मानसिक दोषों के निवारण के उपाय व आत्मा के भेदों का निरूपण किया गया है तथा समाधि के विभिन्न रूपों का भी विवेचन है। इस ग्रन्थ में ३४५ दोहे हैं। परमात्म प्रकाश पर अनेक टीकायें लिखी गयी है जिनमें बह्यमदेव, बालचन्द्र, तथा मुनिभद्रस्वामी की कन्नड़ टीका प्रमुख है। +

योगसार:-

इसके रचनाकार भी योगीन्दु देव है। इस छोटे से ग्रन्थ में कुल १०७ दोहे हैं। इन दोहों के माध्यम से ही ग्रन्थकार ने आध्यात्मिक गूढ़ एवं रहस्यमयी तत्त्वों का अति सुन्दर विश्लेषण किया है। इस ग्रन्थ पर इन्द्रनन्दी की टीका है। ☀

आत्मानुशासन:-

इस ग्रन्थ के रचियता आचार्य गुणभद्र हैं। संस्कृत श्लोकों वाली यह वृत्ति योगाभ्यास की पूर्व पीठिका है। इस पुस्तक में, मन को बाह्य विषयों से हटाकर आत्मध्यान की ओर प्रेरित करना चाहिये ऐसा बतलाया गया है। विषयों में लिप्त रहकर आत्मध्यान करना असम्भव है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ६ वीं शताब्दी का मध्य भाग है।— इस ग्रन्थ पर अनेक टीकायें भी लिखी गयी हैं। △

+ डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ ११८

☀ परमात्म प्रकाश तथा योगसार, डा० सम्पादक ए० एन० उपाध्ये, प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३७, पृ. ११५

— भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १२१

△ टीकाकार एवं अंग्रेजी अनुवादक जे. एल. जैनी, सैक्रेड बुक्स ऑफ दि जैनाज ग्रन्थमाला, ई० सन् १९२८; पं० टोडरमव रचित टीका के साथ, सम्पादक इन्द्रलाल शास्त्री, मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला जयपुर, वीर नि० सं० २४८२

तत्त्वानुशासन-ध्यान शास्त्र:-

इस ग्रन्थ के लेखक रामसेन आचार्य हैं जिनका समय अंतरंग एवं बहिरंग दोनों परीक्षणों से विक्रम की १० वीं शताब्दी का प्रायः अन्तिम चरण निर्धारित होता है ।... इस ग्रन्थ का प्रधान विषय 'ध्यान' है, इसलिये इसको 'ध्यान-शास्त्र' भी कहते हैं । यह अध्यात्म विषय की एक बड़ी ही महत्वपूर्ण कृति है । ध्यान द्वारा ध्ववहार तथा निश्चय दोनों प्रकार का मोक्ष मार्ग सिद्ध होता है । इसमें ध्यान के चारों भेदों-प्रभेदों का विस्तृत रूप से विवरण दिया गया है । मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र की अनिवार्यता निरूपित है । मन की एकाग्रता के लिए ध्यान का महत्व बतलाया गया है, मन्त्र, जप, आसन आदि का भी वर्णन किया गया है । इसमें २५६ पद्य हैं ।

योगसार प्राभृत × :-

इस ग्रन्थ के रचयिता मुनि अमितगति हैं । इस ग्रन्थ में ५४० श्लोक हैं । इनका रचनाकाल ई० १० वीं शताब्दी है । इनमें ६ अधिकार हैं १- जीव, २- पुद्गल, ३- आस्रव, ४- बन्ध, ५- संवर ६- निर्जरा, ७- मोक्ष, ८- चारित्र, ९- चूलिका । इस ग्रन्थ में योग सम्बन्धी विषय का विस्तृत वर्णन है । इनके अतिरिक्त जीव-कर्म का सम्बन्ध, कर्म के कारण, कर्म से छूटने के उपाय, ध्यान, चारित्र आदि का भी वर्णन है । अन्त में मोक्ष के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला गया है । मुनि एवं श्रावक के व्रतों की भी चर्चा है ।

हरिभद्र का योगविषयक साहित्य:-

जैन आचार्य हरिभद्र सूरि का समय ई० ५८० माना गया है ।*

.... तत्त्वानुशासन, प्रस्तावना, पृ० ३४

× (अ) हिन्दी अनुवाद के साथ पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९१८

(ब) भाष्य के साथ जुगल किशोर मुख्त्यार द्वारा सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् १९६९

* जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग ४

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (४६)

हरिभद्र सूरि ने जैन आगमों के आधार पर योग की जो व्याख्या और विषय-विभाग तथा उसमें जिस विशिष्ट पद्धति का अनुसारेण किया है वह दार्शनिक जगत् में बिल्कुल नई वस्तु है। उनके लिखे हुए योग विषयक ग्रन्थ-योग बिन्दु, योग दृष्टि समुच्चय, योग विशिका, योग-शतक और षोडशक इसके ज्वलन्त प्रमाण है। उक्त ग्रन्थों में ये केवल जैन परम्परा के अनुसार योग-साधना का वर्णन करके ही सतुष्ट नहीं हुए, बल्कि पातञ्जल योग-सूत्र में उसकी विशेष परिभाषाओं के साथ जैन साधना एवं परिभाषाओं की तुलना करने एवं उसमें रहे हुए साम्य को बताने का भी प्रयत्न किया।+

आचार्य हरिभद्र के योगविषयक मुख्य चार ग्रन्थ हैं १-योगबिन्दु, २- योगदृष्टि समुच्चय, ३- योग शतक, ४- योगविशिका। इनमें प्रथम दो ग्रन्थ संस्कृत में हैं और अन्तिम दो ग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं।

योगबिन्दु:-

हरिभद्र के इस ग्रन्थ में ५२७ संस्कृत पद्य हैं, प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्व-प्रथम योग के अधिकारी का वर्णन किया गया है, जो दो प्रकार के होते हैं-चरमावर्ती तथा अचरमावर्ती। जिस जीव का काल मर्यादित हो गया है, जिसने मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेदन कर लिया है, जो शुक्ल पक्षी है वही चरमावर्ती मोक्ष का अधिकारी है। इसके विपरीत जो विषय वासना में और काम भोगों में आसक्त बने रहते हैं वे अचरमावर्ती जीव योग मार्ग के अधिकारी नहीं हैं। विभिन्न प्रकार के जीव के भेदों के अंतर्गत, १- अपुनबन्धक, २- सम्यग्दृष्टि, ३- वेशविरति और ४- सर्वविरति की चर्चा की गई है। चारित्र के वर्णन में आचार्य श्री ने पाँच योग-भूमिकाओं का वर्णन किया है १- अध्यात्म, २- भावना ३- ध्यान, ४- समता और ५- वृत्तिसंक्षय। इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच अनुष्ठानों का भी वर्णन किया है १- विष, २- गर, ३- अननुष्ठान

+ समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते ।

सम्बप्रकर्षरूपेण वृत्यर्थ-ज्ञानतस्तथा ॥

असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।

निरुद्धाशेषवृत्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः ॥ (योगबिन्दु, ४१८, ४२०)

☀ वही ३५७-३७०

४- तद्वेतु तथा ५- अमृत अनुष्ठान । इसमें प्रथम के असदनुष्ठान है तथा अन्तिम के दो अनुष्ठान सदनुष्ठान हैं और योग अधिकारी व्यक्ति को सदनुष्ठान ही होता है ।

योगदृष्टि समुच्चयः—

प्रस्तुत ग्रन्थ में २२८ संस्कृत पद्य हैं । इसमें वर्णित आध्यात्मिक विकास, का क्रम परिभाषा, वर्गीकरण और शैली की अपेक्षा से योग-विन्दु से अलग दिखाई देता है । योगविन्दु में प्रयुक्त कुछ विचार इसमें शब्दान्तर से अभिव्यक्त किये गये हैं और कुछ विचार अभिनव भी हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में योगविन्दु में प्रयुक्त अचरमावर्त काल को 'ओघ-दृष्टि' और चरमावर्त काल को 'योगदृष्टि' कहा है । इसमें योग के अधिकारियों को तीन विभागों में विभक्त किया गया है । प्रथम भेद में आरम्भिक अवस्था से लेकर विकास की चरम-अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओं के कर्ममल के तारतम्य की अपेक्षा से आठ विभाग किये हैं १- मित्रा, २- तारा, ३- बला, ४- दीप्रा, ५- स्थिरा, ६- कान्ता ७ प्रभा, ८- परा ।

द्वितीय विभाग में योग के तीन भेद किये गये हैं १- इच्छा-योग, २- शास्त्र योग, ३- सामर्थ्य योग ।

तृतीय भेद में योगी को चार भागों में बाँटा है १- गोत्र योगी २- कुल योगी, ३- प्रवृत्त-चक्र योगी, ४- सिद्ध योगी ।

प्रथम वर्गीकरण में निर्दिष्ट आठ योग दृष्टियों में ही १४ गुण-स्थानों की योजना कर ली गयी है ।

इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञवृत्ति रची है, जो ११७५ श्लोक प्रमाण है । इस ग्रन्थ पर एक और वृत्ति की रचना हुई, है जिसके लेखक सोमसुन्दरसूरि के शिष्य साधुराजगणि हैं । यह ग्रन्थ ४०५ श्लोक प्रमाण है ...

योगशतकः—

प्रस्तुत ग्रन्थ अपने नाम के अनुसार १०१ प्राकृत गाथाओं वाला है । इस ग्रन्थ का विषय निरूपण की दृष्टि से योगविन्दु के अधिक निकट है । ग्रन्थ के आरम्भ में योग का स्वरूप दो प्रकार का बतलाया

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (४८)

है १- निश्चय, २- व्यवहार। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यग्दर्शन का आत्मा के साथ के सम्बन्ध को 'निश्चय योग' कहा है और उक्त तीनों के कारणों-साधनों को 'व्यवहार योग' कहा है।

साधक जिस भूमिका पर स्थित है, उससे ऊपर की भूमिकाओं पर पहुँचने के लिए उसे क्या करना चाहिये इसके लिए योगशतक में कुछ नियमों एवं साधनों का वर्णन किया है। इनमें शयन, आसन आहार तथा योगों से प्राप्त लब्धियों का भी वर्णन है। इस तरह योग का स्वरूप, योगाधिकार के लक्षण एवं ध्यान रूप, योगाधिकार के लक्षण एवं ध्यानरूप योग अवस्था का सामान्य वर्णन जैन परम्परा-नुसार किया गया है।

योगविशिका:-

यह बीस गाथाओं की छोटी सी रचना है। जिसमें संक्षिप्त रूप में योग की विकसित अवस्थाओं का निरूपण है। इसमें चारित्र शील एवं आचारनिष्ठ साधक को योग का अधिकारी माना है और उसकी धर्म-साधना या साधना के लिए की जाने वाली आवश्यक धर्म-क्रिया को 'योग' कहा है। उसकी पाँच भूमिकायें बतलाई हैं १- स्थान, २- ऊर्ण, ३- अर्थ, ४- आलम्बन, ५- अनालम्बन। प्रस्तुत ग्रन्थ में इनमें से आलम्बन और अनालम्बन की व्याख्या की है। प्रथम तीन भेदों की मूल व्याख्या नहीं की गई है। परन्तु उपाध्याय यशोविजय जी ने योगविशिका की टीका में पाँचों का अर्थ किया है। + इनमें से प्रथम के दो भेद को कमयोग और के तीन भेदों को ज्ञान योग कहा है। इसके अतिरिक्त स्यान आदि पाँच भेदों के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि ये चार-चार भेद करके उनके उनके स्वरूप और कार्य का वर्णन किया है।

षोडशक:-

इस ग्रन्थ के कुछ ही प्रकरण योग विषयक हैं। ग्रन्थ के चौहदवें प्रकरण में योग-साधना में बाधक खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति अन्यमुद, रुग् और आसंग इन आठ चित्त दोषों का वर्णन किया गया है सोलहवें प्रकरण में उक्त आठ दोषों के प्रतिपक्षी अद्वेष, जिज्ञासा,

+ योगविशिका, यशोविजय टीका ३

शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति—इन आठ चित्त गुणों का निरूपण है। योगसाधना द्वारा क्रमशः स्वानुभूतिरूप परमानन्द की प्राप्ति का निरूपण है। इस ग्रन्थ पर योगदीपिका नाम की एक वृत्ति है जिसके लेखक यशोविजय गणि हैं। इस पर यशोभद्र—सूरि का विवरण भी है।

ज्ञानसार:—

इस ग्रन्थ के रचयिता मुनि पद्मनन्दि हैं। जिनका समय विक्रम सं० १०८६ है। इसमें कुल ६३ गाथायें हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ के वर्ण्य विषय ज्ञानाणव के ही अनुसार हैं और इसमें ध्यान के भेद—प्रभेदों, विविध प्रकार के मन्त्र एवं जप, शुभ-अशुभ के फल आदि का वर्णन हुआ है; तथापि इन विषयों के प्रतिपादन में रोचकता एवं स्पष्टता अधिक है।

पाहडदोहा:—

इस ग्रन्थ के रचयिता मुनि रामसिंह है। डॉ० हीरालाल जैन के अनुसार इनका समय ई० सन् ६३३ और ११०० के बीच अर्थात् १००० के आसपास होना चाहिये। यद्यपि इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय परमात्म प्रकाश तथा योगसार से साम्य रखता है, तथापि इस ग्रन्थ में दहुत से ऐसे दोहे हैं जिनमें बाह्य क्रियाकाण्ड की निष्फलता तथा आत्म संयम और आत्मदर्शन में ही सच्चे कल्याण का उपदेश है। झूठे जोगियों को खूब फटकारा है। इसमें योग एवं तन्त्र सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के भी दर्शन होते हैं, जैसे—शिवशक्ति देहदेवली, सगुण निगुण, दक्षिण मध्य आदि। इस ग्रन्थ में २२२ दोहे हैं। यह अपभ्रंश भाषा में है।+

ज्ञानार्णव:—

आचार्य शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव ध्यान विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है शुभचन्द्र संभवतः राजा भोज के काल में अर्थात् विक्रम की १३ वीं शती में हुए हैं। × इस ग्रन्थ में ४२ प्रकरण है। पद्य संख्या लगभग २२३० है। इसका दूसरा नाम योगार्णव है। इसमें योगी-श्वरों के आचरण करने योग्य, जानने योग्य सम्पूर्ण जैन सिद्धान्त

+ भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ११६

× ज्ञानार्णव पृ० २०

(५०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

का रहस्य भरा हुआ है ! जैनियों में यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। ग्रन्थ की भाषा, कविता और पदलान्धित्य आदि को देखते हुए ग्रन्थकार की प्रतिभा का पता सहज में लग जाता है। ग्रन्थ में प्रमुखता से ध्यान की प्ररूपणा तो की गई है, पर साथ में उस ध्यान की सिद्धि में निमित्त भूत अनित्यादि भावनाओं, अहिंसादि महाव्रतों और प्राणायामादि अन्य अनेक विषय चर्चित हुए हैं। ज्ञानार्णव की एक दो संस्कृत टीकायें सुनी हैं, परन्तु अभी तक देखने में नहीं आयी। केवल इसके गद्य भाग मात्र की एक छोटी सी टीका श्री श्रुतसागरसूरिकृत प्राप्त हुई है।....

अध्यात्म रहस्य:-

इस ग्रन्थ के रचियता पं० आशाधर जी हैं। × उन्होंने वि० सं० १३०० में अपने अनगार धर्माभूत ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका पूरी की और उसमें इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। ✱ इसको देखकर ऐसा लगता है कि उससे कुछ समय पहले ही इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी। इस ग्रन्थ में ७२ पद्य हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में अध्यात्मयोग की विशेष रूप से चर्चा की गई है। उसके सन्दर्भ में ही आत्मा व परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाले गूढ़ तत्त्वों का भी वर्णन है। इसमें कर्म, ध्यान आदि विषयों का भी विवेचन है। ध्यान का इस ग्रन्थ में सूक्ष्म रूप से वर्णन किया गया है।

योगशास्त्र:-

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचियता सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र सूरि हैं। + इस ग्रन्थ का समय वि० १२ वीं शती माना गया है। यह योग विषयक एक अति महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो बारह भागों में विभक्त है। यह एक हजार श्लोक प्रमाण है। प्रथम तीन भागों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य स्वरूप रत्नत्रय का वर्णन किया है। चौथे अध्याय में

.... ज्ञानार्णव: पृ० २०

× अध्यात्मरहस्य, जुगल किशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।

✱ अध्यात्म रहस्य, प्रस्तावना, पृ० ३४

+ जैनैन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ३

अध्यात्मसार:—...

यह ग्रन्थ सात प्रकरणों में विभक्त है। योग अधिकार एवं ध्यान कषायों एवं रागद्वेष पर विजय पाने, एवं अनित्यादि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओं के साथ ध्यान के योग्य आसनों का वर्णन किया है। पाँचवे व छठे अध्याय में विस्तार से प्राणायाम का निरूपण एवं उससे होने वाली हानि का चित्रण किया है। सातवें अध्याय से दसवें अध्याय तक आर्त, रौद्र, धर्म्य ध्यान की विस्तृत रूप से चर्चा की है। ग्यारहवें एवं बारहवें अध्यायों में शुक्ल ध्यान का निरूपण करके स्वानुभव सिद्ध तत्व को प्रकाशित किया गया है। इस पर उनकी स्वोपज्ञवृत्ति भी है। यह वृत्ति बारह हजार श्लोक प्रमाण है।

योग प्रदीप:—

इस ग्रन्थ के प्रणेता के नाम एवं काल का अभी तक पता नहीं चल सका है। इसमें कुल १४३ श्लोक है। जिसमें परमात्मा के साथ शुद्ध मिलन एवं परमपद की प्राप्ति आदि की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। इसमें समरसता, रूपातीत, ध्यान, सामायिक, शुक्ल ध्यान, अनाहतनाद, निराकार ध्यान आदि विषयों का भी निरूपण किया गया है।

योगसार—

इस ग्रन्थ के प्रणेता योगीन्दु देव माने गये हैं।[☸] लेनिन समझा जाता है कि यह ग्रन्थ विक्रम की बारहवीं शती के पूर्व ही लिखा गया है इस ग्रन्थ में कुल १०८ प्राकृत पद्य है जिनमें पाँच प्रस्तावों के विधान है, यथा १- यथावस्थित देवस्वरूपोपदेश, २- तत्त्वसार धर्मोपदेश ३- साम्योपदेश, ४- सत्वोपदेश और ५- भावशुद्धिजनकोपदेश।

यशोविजयकृत ग्रन्थ—

यशोविजय का जैन साहित्य में बहुत बड़ा योगदान रहा है। इनका समय ई० १८ वीं शताब्दी है। इन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् योगसार बत्तीसी, पातञ्जल योगसूत्रवृत्ति, योगविशिका की टीका तथा योगदृष्टिसञ्ज्ञाय की रचना की है।

☸ वही भाग ३

... श्री यशोविजय गणि, प्रकाशक, केशरबाई ज्ञान भण्डार, स्थानक, जाननगर।

(५२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अधिकार प्रकरण में मुख्यतः गीता एवं पातञ्जल योगसूत्र के विषयों के सन्दर्भ में जैन योग परम्परा के प्रसिद्ध ध्यान के भेदों का समन्वयात्मक विवेचन है ।

योगसार बत्तीसी—×

इस ग्रन्थ में ३२ प्रकरण है जिनमें आचार्य हरिभद्र के भोग-ग्रन्थों की ही विस्तृत एवं स्पष्ट रूप से इन्होंने व्याख्या की है ।

ध्यान दीपिका:—

इस ग्रन्थ के प्रणेता देवेन्द्रनन्दि है । यह ग्रन्थ वि० सं० १७६६ में गुजराती भाषा में लिखा गया है । इसमें छह खण्ड हैं, जिनमें बारह भावना, रत्नत्रय, महाव्रत, ध्यान, मन्त्र तथा स्याद्वाद का वर्णन किया गया है ।

ध्यान विचार—

इस ग्रन्थ के ग्रन्थकार भी अज्ञात है लेकिन इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के शास्त्र भण्डार में है । यह गद्य के रूप में लिखी गई है । इसमें भावना, ध्यान, अनुपेक्षा, भावना योग, काय योग एवं ध्यान के २४ भेदों का निरूपण है ।

अध्यात्म तत्त्वालोक:—

इसके ग्रन्थकार मुनि न्याय विजय हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में आठ प्रकरण है । प्रथम एवं द्वितीय प्रकरण में आत्मा के विकास एवं गुरुजनों की पूजा का वर्णन है । तृतीय में योग के आठ प्रकार बतलाये हैं । चतुर्थ एवं पंचम प्रकरण में कषायों पर विजय एवं ध्यान सामग्री का वर्णन है । छठे प्रकरण में ध्यान के चार प्रकारों की विस्तृत व्याख्या है । सातवें व आठवें प्रकरण में योग की विभिन्न श्रेणियों एवं ज्ञानियों के आत्मतत्त्व पहचानने के उपाय बतलाये हैं ।

आदि-पुराण

आचार्य जिनसेन द्वारा विरचित आदि पुराण एक पौराणिक ग्रन्थ है । वह आदि-पुराण और उत्तर-पुराण इन दो विभागों में विभक्त

× सटीक, प्रकाशक, जैन धर्म प्रसारक मण्डल, भावनगर ।

ध्यान का प्ररूपक जैन साहित्य (५३)

हे। राजा श्रेणिक के प्रश्न पर गौतम गणधर ने जो ध्यान का व्याख्यान किया था उसका आदि-पुराण के २१ वें पर्व में विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान के चारों भेदों का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। आचार्य जिनसेन का समय ६ वीं शती के लगभग है। +

हरिवंश पुराण—

पुनाट संघीय आचार्य जिनसेन कृत यह महान् ग्रन्थ संस्कृत श्लोकों में बद्ध है। इस ग्रन्थ में ६६ सर्ग और लगभग १०,००० श्लोक हैं। इस ग्रन्थ को महापुराण भी कहा जाता है। इसके ५६ वें सर्ग में ध्यान के दस भेदों का उल्लेख किया गया है। वहाँ पर आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को अशस्त ध्यान और धर्मध्यान शुक्लध्यान को प्रशस्त ध्यान कहा है।

+ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १

—: ० :-



तृतीय परिच्छेद

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप

ध्यान का महत्व—

जैन साहित्य में 'ध्यान' का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। सब प्राणी सुख के अभिलाषी होते हैं और दुःख को कोई भी नहीं चाहता। पर वह सुख क्या है और कहाँ है तथा उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हैं, इसका विवेक अधिकांश को नहीं रहता है। अज्ञानी प्राणी जिसे सुख मानता है वह यथार्थ में सुख नहीं है, किन्तु सुख का आभास मात्र है। इस प्रकार कर्म बन्धन में बद्ध होकर वे सुख के स्थान में दुःख का अनुभव किया करते हैं।

तब यथार्थ सुख कौन हो सकता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसके समाधान स्वरूप यह कहा गया है 'कि जिसमें अमुख का लेश भी नहीं है उसे ही यथार्थ सुख समझना चाहिये।' + ऐसा सुख जीव को कर्म बन्धन से रहित हो जाने पर मुक्ति में ही प्राप्त हो सकता है, जन्म मरणरूप संसार में वह सम्भव नहीं है।☀ उस मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्य है, जिन्हें समस्त रूपों में मोक्ष का मार्ग माना गया है। निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार के उस मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का कारण ध्यान है, अतएव मुक्ति प्राप्ति के लिए उस ध्यान के अध्यास की जहाँ तहाँ प्रेरणा की गई है।— क्योकि जो व्यक्ति जिस समय जिस भाव का चिन्तन

+ स धर्मो यत्र नाधर्मन्तत् सुख यत्र नासुखम् ।

तज्ज्ञान यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नाऽऽगतिः ॥ (आत्मानुशासन, ४३]

☀ आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनस्वरम् ।

घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत् तन्मोक्षमुखं विदुः ॥ [तत्त्वानुशासन, २४२]

— दुविह पि मोवखहेउं ज्ञाणे पाउणदि जं सुणीणियमा ।

तम्हा पयत्तचित्ता जूयं ज्ञाणं समब्भसह ॥ (द्रव्यसंग्रह, ४७)

करता है, तो वह उसी भाव में तमन्य हो जाता है ।

ध्यान का अर्थ—

ध्यान शब्द 'धै चिन्तायाम्' धातु से निष्पन्न होता है, किन्तु प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ उससे भिन्न है। ध्यान का अर्थ चिन्तन नहीं किन्तु चिन्तन का एकाग्रिकरण अर्थात् चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर रखना या उसका निरोध करना है।... आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान को सम्यग्दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित कहा है। × तत्त्वार्थ सूत्र में अनेक अर्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता के निरोध को अन्य विषयों की आर से हटाकर उसे किसी एक ही वस्तु में नियन्त्रित करने को ध्यान कहा गया है। * इससे ज्ञात होता है कि जैन परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही माना गया था। वह मन, वाणी और शरीर तीनों से सम्बन्धित था। इस अभिमत के आधार पर उसकी निरंजन-दशा-निष्प्रकम्प-दशा ध्यान है। Δ ध्यान शतक में स्थिर अध्यवसान को ध्यान का स्वरूप बतलाया है और जो एकाग्रता को प्राप्त मन है उसको ध्यान कहा है।— आदिपुराण में भी चित्त का एकाग्र रूप से निरोध करना ध्यान है, यह बतलाया गया है। ☀ भगवती आराधना की विजयोदया टीका में राग, द्वेष और मिथ्यात्व के सम्पर्क से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करने वाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है उसे ध्यान कहा गया है। वहीं आगे एकाग्र चिन्ता

... अंतो मुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ ज्ञाणं । (आवश्यक नियुक्ति गाथा, १४६३)

× दंसण-णाणसमगं ज्ञाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं । (पंचास्तिकाय, १५२)

* उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमान्तमुहूर्तति । (तत्त्वार्थ सूत्र, ६/२७)

Δ आवश्यक नियुक्ति, १४६७-७८

— जं थिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं जं चलं तयं चित्तं । (ध्यान शतक २)

☀ एकाग्रयेण निरोधो यच्चित्तयस्यैकत्र वस्तुनि । (आदिपुराण, सर्ग २१, श्लोक ८)

५६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

निरोध को भी ध्यान कहा गया गया है ।+ तत्त्वानुशासन में भी एकाग्र चिन्ता को ध्यान का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है और वह निर्जरा तथा संवर का कारण है ।→ योगसार प्राभृत में ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि आत्मस्वरूप का प्ररूपकरत्नत्रयमय ध्यान किसी एक ही वस्तु में चित्त के स्थिर करने वाले साधु के होता है जो उसके कर्मक्षय को करता है । × वस्तुतः चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिन्दु पर केन्द्रित करना कठिन है, क्योंकि यह किसी भी विषय पर अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा टिक नहीं पाता तथा एक मुहूर्त ध्यान में व्यतीत हो जाने के पश्चात् यह स्थिर नहीं रहता और यदि कभी ही भी जाये तो वह ध्यान न कहलाकर चिन्तन कहलायेगा अथवा आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलायेगा ।☀ प्रकारान्तर से ध्यान अथवा समाधि वह है, जिसमें संसार बन्धनों को तोड़ने वाले वाक्यों के अर्थ का चिन्तन किया जाता है अर्थात् समस्त कर्म मल नष्ट होने पर सिर्फ वाक्यों का आलम्बन लेकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाने का प्रयत्न किया जाता है ।—

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में अगमोक्त विधि के अनुसार वचन, काय और चित्त के निरोध को ध्यान कहा गया है ।△ ध्यान को साम्य भाव बताते हुए कहा गया है कि योगी जब ध्यान में तन्मय हो जाता

+ जिदरागो जिददोसो जिदिदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।

अरदिरदिमोहमहणो ज्ञाणोवगओ सदा होहि । (भगवती आराधना वि. टी. १६६३)

→ एकाग्र-चिन्ता रोधो यः परिस्पन्देन वजितः ।

तद्ध्यानं निर्जरा-हेतुः संवरस्य च कारणम् ॥ (तत्त्वानुशासन, ५६)

× योगसार प्राभृत (अमितगति प्रथम) ६-७

☀ मुहूर्तात्परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत् ।

वह्वर्थसंक्रमे तु स्याद्दीर्घाऽपि ध्यान-सन्ततिः ॥ (योगशास्त्र,

४/११६)

— योगप्रदीप, १३८

△ तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, सिद्धसेन गणि, ६-२०

है, तब उसे द्वैत ज्ञान रहता ही नहीं और वह समस्त रागद्वेषादि सांसारिकता से ऊपर उठकर चित् स्वरूप आत्मा के ही ध्यान में निमग्न हो जाता है।* इसी परिभाषा की पुष्टि करते हुए ध्यान के सन्दर्भ में समरसीभाव × तथा सवीर्यध्यान → का प्रयोग हुआ है। रयणसार में जिनागम का अभ्यास, पठन, पाठन, चित्तवन मनन और वस्तु स्वरूप के विचार को ही ध्यान माना गया है।...

श्री जिनागम में परिणाम की स्थिरता को ध्यान कहा गया है। ×

महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्र में ध्यान का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि धारणा में जहाँ चित्त को धारण किया गया है वहीं पर जो प्रत्यय की एकाग्रता है—विसदृश परिणाम को छोड़कर जिसे धारणा में आलम्बन भूत किया गया है उसी के आलम्बन रूप जो निरन्तर ज्ञान की उत्पत्ति होती है—उसे ध्यान कहते हैं।* पतञ्जलि ने एकाग्रता और निरोध ये दोनों केवल चित्त के ही माने हैं। △ चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।—

उक्त विवरण से फलित होता है कि चिन्तन—शून्यता ध्यान नहीं और वह चिन्तन भी ध्यान नहीं है, जो अनेकाग्र है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है, भाव क्रिया ध्यान है, और चेतना के व्यापक प्रकाश में जब चित्त विलीन हो जाता है, वह भी ध्यान है।

* साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।

तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः॥ ज्ञानार्णव, अध्याय २४/१३

× सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम् ।

एतदेव समाधिः स्यात्लोक-द्वय-फल-प्रदः ॥ तत्वानुभासनं, १३७

→ ज्ञानार्णव, अध्याय ३१, सवीर्य ध्यानम् ।

... अञ्जयणमेव ज्ञानं पचेदियणिग्गहं कसायं पि । (रयणसार, ६५)

× श्री जिनागम, १२

* तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । (योगदर्शन ३-२)

△ पातञ्जल योगदर्शन, १/१८

— चित्त विक्षेपत्यागो ध्यानम् ।

(सर्वार्थसिद्धि, ६/२०/४३६/८)

(५८) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

इन परिभाषाओं के आधार पर जाना जा सकता है कि जैन आचार्य जड़तामय शून्यता व चेतना की सूच्छा को ध्यान कहना मानते थे ।

ध्यान का पर्यायः—

ध्यान के पर्याय के रूप में तप, समाधि, धीरोध, स्वान्तनिग्रह, अंतः संलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, सवीर्यध्यान आदि का प्रयोग किया गया है । + योग को भी ध्यान के समानार्थक रूप में प्रयोग किया गया है । इन तीनों शब्दों [ध्यान, समाधि, योग] के अर्थ में सामान्य से कुछ भेद नहीं है, क्योंकि वे तीनों ही शब्द प्रायः एकाग्रचिन्ता निरोध रूप समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं ।☀ इन तीनों शब्दों के अर्थ में एक रूपता होते हुए भी कुछ भेद भी हैं ।

समाधि—

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में समाधि के स्वरूप प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार भाण्डारागर में अग्नि के लग जाने पर बहुत उपकारक होने के कारण उसे शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक व्रत शीलों से सम्पन्न मुनि के तप में कहीं से बाधा के उपस्थित होने पर उस बाधा को दूर कर जिसे धारण किया जाता है

+ योगो ध्यानं समाधिश्च धी-रोधः स्वान्तनिग्रहः ;

अन्तः संलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः ॥

[आर्ष २१/१२; तत्वानुशासन, पृ० ६१]

☀ (क) युजेः समाधि वचनस्य योगः, समाधि ध्यानमित्यनर्थान्तरम् ।
(तत्त्वार्थवार्तिक, ६, १, १२)

[ख] प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानालम्बनवर्तिनीम् ।

एकालम्बन एवैनां निरुणद्धि विशुद्ध धीः ॥

तदास्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम् ।

प्रसंख्यानं समाधिः स्याद् ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम् ॥ (तत्वानुशासन ६०-६१)

(ग) योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः ॥ (योगसूत्र भाष्य, १-१)

उसका नाम समाधि है। — आचार्य वीरसेन ने समाधि के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जो सम्यक् अवस्थान होता है उसका नाम समाधि है। △ तत्त्वानुशासन में ध्याता और ध्येय कीं एकरूपता को समाधि कहा गया है। * पाहुडदोहा में समाधि की विशेषता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार नमक पानी में विलीन होकर समरस हो जाता है उसी प्रकार यदि चित्त आत्मा में विलीन होकर समरस हो जावे तो फिर जीव को समाधि में और ब्या करना है अर्थात् बाह्य विषयों की ओर से निःस्पृह होकर चित्त का जो आत्म स्वरूप में लीन होना है, यही समाधि है। ... योगसूत्र में उस ध्यान को ही समाधि कहा गया है कि जो ध्येय मात्र के निर्भासरूप होकर प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य के समान हो जाता है ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों के स्वरूप की कल्पना से रहित होकर निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होता है। × इसी प्रकार समाधि तत्त्व की आचार्य प्रभाचन्द्र विरचित टीका में समाहित समाधि युक्त-अन्तःकरण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसे एकाग्रीभूत मन कहा है। ☀ विष्णु पुराण में भी परमात्मा के स्वरूप का जो विकल्प

— यथा भण्डारागारे दहने समुपस्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीष्यते बहूपकारक-
त्वात् तथाऽनेकव्रत शीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित् प्रत्यूहे समुप-
स्थिते तत्संधारणं समाधिः ।

(सर्वार्थसिद्धि, ६-२४ (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ६.२४.८)

△ दसंण-णाण-चरित्तेसु सम्ममवदठ्ठाणं समाही णाम । (धबला पु० ८,
पृ ८८)

* सोऽयं सभरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।

एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः ॥ (तत्त्वानुशासन, १३७)

... जिमि लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिमि जइ चित्तु विलिज्ज ।

समरसि हवइ जीवडा काइ समाहि करिज्ज ॥ (पाहुडदोहा, १७६)

× तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपं शून्यमिव समाधिः । (योगसूत्र, ३-३)

☀ समाहितान्तःकरणेन-समाहितम् एकाग्रीभूतं तच्च तदन्तःकरणं
च मनस्तेन ।

(समाधितन्त्र टीका, ३)

(६०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

से रहित ग्रहण होता है उसका नाम समाधि है। इसकी सिद्धि ध्यान से होती है, ऐसा कहा गया है। Δ

योग:-

याग शब्द 'युज्' धातु से बना है। संस्कृत व्याकरण में दो युज् धातुओं का उल्लेख है जिसमें एक का अर्थ जोड़ना है, = तथा दूसरे का अर्थ समाधि: मन: स्थिरता है।☀ इस शब्द का प्रयोग भारतीय योग-दर्शन में दोनों अर्थों में हुआ है। 'युजे समाधि वचनस्य योगः' इस निरुक्ति के अनुसार योग को समाधिपरक कहा गया है। + पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है। → यहाँ निरोध का अर्थ चित्त वृत्तियों को नष्ट करना है। तत्त्वार्थसूत्र में शरीर, वाणी तथा मन के कर्म का निरोध संवर है और यही योग है। इसी प्रकार योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने 'योगः समाधिः' × कहकर योग को समाधि के रूप में ग्रहण किया है जिसका अर्थ है समाधि द्वारा सच्चिदानन्द का साक्षात्कार। हरिभद्र सूरि ने उन सभी निर्मल धर्म व्यापार को योग कहा है जो मोक्ष से योजित करता है। × उनके द्वारा योग के—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंशय ये पाँच भेद किये गये हैं। + हेमचन्द्र ने मोक्ष के उपाय रूप योग को ज्ञान, श्रद्धान और चारित्रात्मक कहा है। — यशोविजय ने भी हरिभद्र के

Δ तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।

मनसा ध्यान निष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥ (विष्णुपुराण, ६,७,६०)

= युज्पी योगे। (हेमचन्द्र, धातुमाला, गण ७)

☀ युजिच समाधौ। (वही गण ४)

+ तत्त्वार्थवार्तिक, ६, १, १२

→ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगदर्शन, १/२)

... आस्रव निरोधः संवरः। (तत्त्वार्थसूत्र, ६/१)

× योगदर्शन, भाष्य, पृ० २

☀ मोक्षेण जोयणाओ जोगो। (योगविशिका, १ (योगबिन्दु, ३१])

+ वही

— मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः। (अभिधान चिन्तामणि

१/७७)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप (६१)

अनुसार ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र्यात्मक को ही योग कहा है। इस प्रकार जैन परम्परा में योग का अर्थ चित्त वृत्ति का निरोध व मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला साधन है। इसके द्वारा भावना, ध्यान, समता का विकास होकर कर्मग्रन्थियों का नाश होता है। वैदिक बौद्ध व जैन दर्शनों में योग, समाधि व ध्यान (तप) बहुधा समानार्थक हैं।

ध्यान के अंग—

ध्यान के लिए प्रमुख रूप से तीन बातें होना आवश्यक हैं—१-ध्याता
२- ध्येय, ३- ध्यान। +

ध्याता—

ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला। अर्थात् जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है उसको ध्याता कहते हैं। ज्ञानार्णव में ध्याता के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है कि ध्याता में आठ गुण जरूर होने चाहिए जो इस प्रकार हैं.... कि १- ध्याता मुमुक्षु हो, २- संसार से विमुक्त हो, ३- क्षोभरहित व शान्तचित्त हो, ४- वशी हो, ५- स्थिर हो, ६- जितेन्द्रिय हो, ७- संवर युक्त हो, ८- धीर हो। ऐसे आठ गुणों से युक्त ध्याता को ध्यान की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं।

ध्येय—

ध्येय अर्थात् आलम्बन। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता

☀ मोक्षेण योजनादेव योगीह्यत्र निरुच्यते ।

लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतु व्यापारतास्य तु॥ (योगलक्षण, द्वात्रिंशिका, १)

+ (क) ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम् । (योगशास्त्र, ७/१)

(ख) महापुराण, २१/८४

(ग) चारित्रसार, १६७/१

... मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।

जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ (ज्ञानार्णवः, चतुर्थ सर्ग, ६)

६२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

है कि जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय है। बिना किसी आलम्बन अर्थात् ध्येय के ध्यान होना असम्भव है जब तक किसी बात का ध्येय ही नहीं होता तो क्या किया जायेगा? इसी प्रकार ध्यान के लिए ध्येय का होना जरूरी है। जो शुभाशुभ परिणामों का कारण हो उसे ध्येय कहते हैं। X

ध्यान—

ध्यान अर्थात् एकाग्रचिन्तन। अर्थात् ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ही ध्यान है। * निश्चय नय के कर्ता, कर्म करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण को षष्ठकारमयी आत्मा कहा गया है और इनको ही ध्यान कहा है। Δ अतः आत्मा, अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में, अपनी आत्मा के द्वारा, अपनी आत्मा के लिए अपनी आत्मा के हेतु से और अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है। इष्ट अनिष्ट बुद्धि के मूल मोह का क्षय हो जाने पर चित्त स्थिर हो जाता है, उस चित्त की स्थिरता को ही ध्यान कहा गया है। +

ध्यान की सामग्री:—

ध्यान की सामग्री को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ध्यान में परिषर्हों का त्याग, कषायों का नियन्त्रण, व्यतों का धारण और मन तथा इन्द्रियों का जीतना, यह सब ध्यान की उत्पत्ति-निष्पत्ति में सहायभूत-सामग्री है। * भगवती आराधना विजयोदया टीका में नाक

X ध्येयमप्रशस्तप्रशस्त परिणाम कारण। (चारित्रसार, १६७/२)

* ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।

यत्र वा ध्यायते यद्वा, ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ (तत्वानुशासन, ६७)

Δ स्वात्मन स्वात्मनि रूपेण ध्यायेत्स्वस्मैस्वतो यतः।

षट्कारकामयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ (तत्वानुशासन, ७४]

+ इष्टानिष्टार्थमोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः।

ध्यान रत्नत्रयं तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम् ॥ (अनगार धर्माभूत, १/११४/११७)

* संग-त्यागः कषायानां निग्रहो व्यत-धारणम्।

मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान जन्मनि ॥ [तत्वानुशासन, ७५)

के अग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञान में चैतन्य को रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मा में स्मृति का अनुसंधान करें ऐसी ध्यान की सामग्री को बतनाया है।=

परीषहों का त्यागः—

वैसे तो प्राणी मात्र का जीवन संघर्षों की कहानी है, सुख—दुख का चित्रपट है किन्तु मानव जीवन तो हमेशा संघर्षों से ही घिरा हुआ रहता है। उसमें भी साधक और जिस व्यक्ति ने त्याग कर दिया है ऐसे भ्रमण अथवा श्रावक के जीवन में तो अनेक विघ्न बाधाएँ आती रहती है जिनको परीषह या उपसर्ग कहते हैं। मार्ग से च्युत न होने के लिये और कर्मों की निर्जरा के लिए जो सहन करने योग्य हैं वे परीषह हैं। Δ जो रही जाये वही परीषह है। \ast और परीषहों का जीतना ही परीषहजय है।... अर्थात् अत्यन्त दुखादि एवं क्षुधादि वेदनाओं के तीव्र हो जाने पर भी जो शान्तभाव से इन कष्टों को सहन करता है वह साधक परीषहजयी कहलाता है। \times

= किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु ज्ञाणे णिरुद्धदिट्ठीओ ।

अप्पाण्हि सदि सधित्ता संसार मोवखट्ठं ॥ (भगवती आराधना (१७०१)

\times (क) मार्गाच्चयवन निर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः। (तत्त्वार्थसूत्र ६/८)
(ख) क्षुधादि वेदनोत्पत्तौ कर्मनिजरार्थं सहनं परीषहः। (सर्वार्थ सिद्धि, ६/२/४०६/८)

\ast परिषह्यत इति परीषहः। राजवार्तिक, ६/२/६/५६२/२)

.... परीषहस्य जयः परीषहजयः। (सर्वार्थसिद्धि, ६/२/४०६/६)

\times (क) दुःखोऽग्निपाते संकलेशरहितता परीषहः जयः।

(भगवती आराधना, विजयोदयाटी०, ११७१, ११५६/१८)

(ख) क्षुधादिवेनानां तीव्रोदयेऽपि सुखं दुःखजीवितमरणलाभालाभनिदा प्रशंसादि समता रूप परमसामायिकेननवतरतशुभाशुभ कर्मसंवरण चिरंतनशुभाशुभ कर्मनिजरणसमर्थेनायं निजपरमात्मभावनासंजात निर्विकार नित्यानन्द लक्षण सुखामृत संवित्तरचलनं स परीषहजय इति। (बृहद्द्रव्यसंग्रह, ३५/१४६)

परीषहों के भेद:-

जैनागमों में परीषहों के बाईस प्रकार बतलाये गये हैं अर्थात् १- क्षुधा, २- तृषा, ३- शीत, ४- उष्ण, ५- दंशमशक, ६- नग्नता, ७- अरति, ८- स्त्री, ९- चर्या, १०- निषद्या, ११- शय्या, १२- आक्रोश, १३- बध, १४- याचना, १५- अलाभ १६- रोग, १७- तृणस्पर्श, १८- मल, १९- सत्कार-पुरस्कार, २०- प्रज्ञा, २१- अज्ञान और २२- अदर्शन ।

जो भिक्षु भिक्षा के न मिलने पर या अल्प मात्रा में भिक्षा मिलने पर क्षुधा की वेदना को प्राप्त नहीं होता तथा जो अकाल में भी भिक्षा नहीं लेता तथा क्षुधा की वेदना होने पर भी जो भिक्षा नहीं माँगता, वह क्षुधा परीषह को सम्भाव से सहता है वहीं क्षुधा परीषहजयी है ।+

जो मुनि कंठ में प्राण आ जाने पर प्यास की उत्कट बाधा से विचलित नहीं होगा, अपितु पिपासारूपी अग्नि को सन्तोषरूपी नूतन भिट्टी के घड़े में भरे हुए शीतल सुगन्धित समाधि रूपी तेल से शान्त करता है वह तृषा परीषहजयी होता है ।☀

(ग) सो विपरिसह-बिजओ छहादि-पीडाण अइरउददानं ।

सवणाणं च मुणीण उवसम-भावेण जं सहणं ॥ (कार्तिकेया-
नुप्रेक्षा ६८)

(घ) उत्तराध्ययन, अध्ययन २

☀ (क) क्षुत्पिपासाशीतोष्ण दंशमशक नाग्न्या रतिस्त्रीचर्यानिषद्या-
शय्याक्रोशवध याचनालाभरोगतृणस्पर्शमजसत्कारपुरस्कार-
प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि । (तत्त्वार्थसूत्र, ६/६)

(ख) अनगार धर्माभूत, ६/८६-११२

(ग) चारित्रसार १०८/३

(घ) द्रव्यसंग्रह टी० ३५/१४६/६

(ङ) मूलाराधना २५४-२५५

+ (क) सर्वार्थसिद्धि ६/६/४०२/६

(ख) राजवार्तिक ६/६/२/६०८ (ग) चारित्रसार १०८/५

☀ (क) सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२०/१२ (ख) चारित्रसार ११०/३

(ग) राजवार्तिक ६/६/३/६०८/२४

जो प्राणियों की पीड़ा के परिहार में चित्त लगाये रहता है, उस साधु के चारित्र के रक्षणरूप उष्णपरीषहजय कही जाती है।— कड़कड़ाती सर्दी में जो साधक अपने शरीर को गर्म करने की इच्छा नहीं रखता है तथा जिसने आवरण का त्याग कर दिया है एवं जो बर्फ के गिरने पर, हवा का झोका आने पर उसके प्रतीकार की इच्छा नहीं रखता है और जो ज्ञान भावनारूपी गर्भागार में निवास करता है वह साधक शीतवेदना परीषहजय कहलाता है।△

जो साधक मक्खी, पिस्सू, छोटी मक्खी, खटमल, चीटी एवं बिच्छू आदि बाधाओं को बिना प्रतीकार के सहन करता है तथा मन, वचन काय से उन्हें नुकसान नहीं पहुँचाता है तथा निर्वाण की प्राप्ति मात्र संकल्प ही जिसका ओढ़ना है ऐसा साधक दंशमशक परीषहजय कहलाता है।*

यदि साधक के वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो जायें तो भी वह नये वस्त्रों की इच्छा नहीं करता। यदि उसे अल्प मूल्य वाले वस्त्र मिले तो भी

— (क) निवाते निर्जले ग्रीष्मरविकिरणपरिशुष्कपतितपर्ण व्यपेतच्छा—
यातरुण्यतव्यन्तरे यदृच्छयोपनि पतितस्यानशनाद्यभ्यन्तर साध-
नोत्पादितदाहस्यदवाग्निदाह पुरुष वातातपजनितगलतालुशो-
षस्य तत्प्रतीकारहेतून् बहूननुभूतानचिन्तयतः प्राणि पीडा परि-
हारवाहित चेतसश्चरित्र रक्षणमुष्णसहनमित्युपवर्ण्यते। (सर्वार्थसिद्धि
६/६

(ख) चारित्रमार ११२/४

△ [क] राजवार्तिक ६/६/६०६/४ (ख) चारित्रसार १११/४

[ग] सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२१/३

* [क] तेन दंशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिका मत्कुणकीट पिपीलिका-
वृश्चिकादयो गृह्यन्ते। तत्कृतां बाधाप्रतीकारां सहमानस्य
तेषां बाधां त्रिधाप्यकुर्वाणस्य निर्वाण प्राप्तिमात्र संकल्पप्रव-
णस्य तद्वेदनासहनं दंशमशकपरिषह क्षमेत्युच्यते। (सर्वार्थसिद्धि
६/६/४२१/१०]

११३/३

खेद नहीं करता लेकिन याचना नहीं करता बल्कि समभाव से रहता है ऐसा मुनि अचेलव्रतधारी अर्थात् नग्नत्व परीषहजय कहलाता है ।....

अरति का अभिप्राय संगम के प्रति अघैर्य या अनादर का भाव है । जो सयत इन्द्रियों के इष्ट विषय सम्बन्ध के प्रति निरुत्सुक हैं, जो शिलागुफा आदि में स्वाध्याय, ध्यान और भावना में लीन है एवं सुने हुए एवं अनुभव किये हुए विषय भोगों के स्मरण से जिसका हृदय निश्छिद्र रहता है वह अरति परीषहजय कहलाता है ।×

स्त्री शब्द कामवासना का पर्याय माना गया है । स्त्रियों से साधक विशेष रूप से सावधान रहता है, क्योंकि वह स्त्री को अपने ब्रह्मचर्य में बाधक मानता है । स्त्री के बनाव श्रृंगार काम को बढ़ाने व उत्तेजित करने वाले होते है । ब्रह्म वासना से सम्बन्धित आवेगों-संवेगों-वासनागत कुण्ठों से अपने मन को चलायमान होने नहीं देता तथा अपनी इन्द्रियों की, मनोवृत्तियों को कुछुए के समान संकुचित कर लेता है । वह स्त्रियों से अधिक परिचय भी नहीं रखता । समत्व की भावना में रहना ही स्त्री परीषहजय कहलाता है ।*

... [क] राजवार्तिक ६/६/१०/६०६/२६

[ख] चारित्रसार १११/५

[ग] सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२२

× (क) चारित्रसार ११५/३

[ख] राजवार्तिक ६/६/११/६०६/३६

(ग) सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२२

* [क] एकान्तेष्वाराम भवनादिप्रदेशेषु नवयोवनमदविभ्रममदिरा-
पानप्रमत्तासु प्रमदासु बाधमानासु कूर्मवत्संवृतेन्द्रिय हृदयविका-
रस्य ललितस्मितमृदुकथितसविलासवी क्षणप्रहसनमदमन्थरग-
मनमन्मथशक्यापारविफलीकरणस्य स्त्रीबाधापरीषहसहनमवग-
न्तव्यम् । (सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२२/११)

[ख] चारित्रसार ११६/१

[ग] राजवार्तिक ६/६/१३/६१०/७

तपस्या करने से जिसका शरीर अशक्त हो गया है ऐसा साधक क्षीण कृश शरीर वाला होने पर भी अपने कल्प के अनुसार मार्ग के कष्टों को सहता हुआ भी पूर्व में भोगे हुए वाहनादि का स्मरण न करके विचरण करता है लेकिन व्याकुल नहीं होता है ऐसा श्रमण चर्यापरीषहजयी कहलाता है । +

साधक पहले अभ्यास न होने पर भी श्मशान, उद्यान, गिरि, गुफा आदि में निवास करता है । सिंह एवं व्याघ्र आदि हिंसक जीवों की भयंकर ध्वनि को सुनकर वह विचलित नहीं होता । वह नियत काल के लिए वीरासन, उत्कटिका आदि आसनों से अवस्थित नहीं होता । वह समस्त बाधाओं में समभाव से रहता है वही साधक निषद्या परीषहजयी कहलाता है । ☀

जो साधक स्वाध्याय ध्यान आदि के श्रम के कारण थककर कठोर कंटीले एवं शीतोष्ण भूमि पर एक मुहूर्त प्रमाण निद्रा का अनुभव करता है जो करवट लेने से ही प्राणियों को होने वाली बाधा को दूर करने के लिए स्वयं मुर्दे के समान करवट नहीं बदलता तथा जिसका चित्त सदैव ज्ञान भावना में लगा रहता है ऐसा श्रमण शय्या परीषहजयी होता है । —

मुनि को कोई गाली भी दे या उसके अंग भंग कर दे फिर भी वह शान्त भाव से रहता है बल्कि मारने वाले से प्रेम एवं दया के साथ व्यवहार करता है वह उन पर आक्रोश नहीं करता वह क्रोध

+ (क) सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२३

(ख) चरित्रसार ११८/१

☀ श्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागहवरादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु निवसत आदिभ्यप्रकाश स्वेन्द्रियज्ञानपरीक्षितप्रदेशेकृतनियमक्रियस्य निषद्या-नियमितकालामास्थितवतः सिंहव्याघ्रादिविविध भीषण ध्वनिश्रवणा-न्निवृत्तभयस्य चतुर्विधोपसर्गसहनादप्रच्युत मोक्षमार्गस्य वीरासनो-त्कटिकाद्यासनादविचलित विग्रहस्य तत्कृत बाधासहननिषद्या परीषह विजय इति निश्चीयते । [सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२३/७]

— (क) सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२३/११

(ग) राजवार्तिक ६/६/१६/६१०/१८

को सब पाप कर्मों का विपाक मानता है वह कषाय विष के लेश-मात्र अंश को भी अपने हृदय में स्थान नहीं देता।△

साधक को कोई अज्ञानी जीव चाहे वध भी कर दे फिर भी वह उसे अपनी कर्म निर्जरा का सहायक मानकर उपकारी ही समझता है वह उसके प्रेम भाव से ही बोलता है, उसके यही भाव वध परीषह जय कहे जाते हैं।

याचना परीषह पर विजय प्राप्त करना विनम्रता और अहंकार भाव के विसर्जन की साधना है। जो साधक बाह्यव अभ्यान्तर तप को करने में लगा हुआ है एवं जिसने तप से अपने शरीर को सुखा लिया है एवं मात्र अस्थि पंजर रहने पर भी और प्राणों के वियोग होने पर भी व्याहार व दवाई आदि को दोन शब्द कहकर व मुख की मलिनता को दिखाकर जो याचना नहीं करता वह याचना परीषहजयी है।... जो साधक दिन में एक बार ही भोजन ग्रहण करता है तथा भाषा समिति का पालन करता है एवं अनेक घरों में भी भिक्षा याचना करने पर न मिले तो भी दुखी नहीं होता और न ही कोई विकार मन में लाता है, तथा 'लाभ से भी अलाभ मेरे लिए परम तप है, ऐसा विचार जो साधक मन में लाता है, उसे अलाभ परीषह जय मानना चाहिये।×

वैसे तो मुनि की दिनचर्या एवं तपोसाधना ही ऐसी है जो

△ [क] मिथ्यादर्शनोद्रक्तामर्षपरुषावज्ञा निन्दासभ्यवचनानि क्रोधा-
ग्निशिखा प्रबर्धनानि निशृंग्वतोऽपि तदर्थेष्वसमाहितचेतसः
सहसा तत्प्रतिकारं कर्तुमपि शक्नुवतः पापकर्मविपाकमचिन्त-
यतस्तान्याकण्यं तपश्चरणभावनापरस्य कषायविषलव मात्रस्या-
प्यनवकाशमात्महृदयं कुर्वताआक्रोशपरिषहसहनमवधायंते ।
(सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२४)

[ख] चारित्रसार १२०/४

.... राजवार्तिक ६/६/१६/६११/१०

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२५

(ग) चारित्रसार १२२/२

× [क] सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२५ (ख) चारित्रसार १२३/४

उसके पास कोई भी बीमारी नहीं आती लेकिन कुछ प्रारब्ध के कर्म दोषों की वजह से उसको कोई रोग हो भी जाये तब भी साधक उन बीमारियों के अधीन नहीं होता और न ही तप से प्राप्त ऋद्धियों से उनका निवारण करता है वह तो शरीर को अनित्य मानता है ।❀

मार्ग में चलते समय या किसी भी समय मुनि के पैर तृण के स्पर्श से बिंध जाये और उसके वेदना के उत्पन्न होने पर भी जिसका चित्त व्याकुल नहीं होता बल्कि प्रसाद रहित होता है उसके तृण स्पर्शादि बाधा परीषह मानने चाहिये ।+

अपकायिक जीवों की पीड़ा के कारण जो साधक आजन्म अस्नान का व्यत धारण कर लेता है और तीव्र गर्मी में भी पसीना आने से मेल जम जाने पर भी और पवन के द्वारा लाये हुए ब धूल के कणों से जिसका शरीर धूल धूसरित हो गया है और दाद खुबली आने पर भी जो खुजाता नहीं है । सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य रूपी जल से जो अपने कर्ममल की कीचड़ को धो लेता है उस साधक को मल पीड़ा परीषह जय कहा जाता है ।❀

सत्कार का अर्थ पूजा प्रशंसा है तथा क्रिया आदि में आमंत्रण देना पुरस्कार कहलाता है । इस सम्बन्ध में मेरा कोई अपमान करता है, मैं महान तपस्वी हूँ एवं स्वसमय व परसमय का निर्णयज्ञ हूँ तब भी कोई मुझको प्रणाम नहीं करता आदि निम्न कोटि के बिचारों से जिसका चित्त रहित है वह साधक सत्कार पुरस्कार परीषह जय कहा जाता है ।=

❀ (क) राजवार्तिक ६/६/२१/६११/२४

[ख) सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२५/६

+ आदिव्दघनकृतपादवेदनाप्राप्तौ सत्यां तत्राप्रहित चेतश्चर्याशय्या-
निषद्यासु प्राणिपीडा परिहारे नित्यमप्रमत्तचेतस्तृणादिस्पर्श बाधा-
परिषह विजयो वेदितव्यः [सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२६/१]

❀ (क) चारित्रसार १२५/६

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६।६।४२६।४

= (क) सर्वार्थसिद्धि ६/६

(ख) चारित्रसार १२६/५

(७०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

मैं सभी शास्त्रों का ज्ञाता हूँ मेरे सामने सब कोई क्षीण है कोई भी मेरे सामने सुशोभित नहीं होता, इस प्रकार विज्ञानमद का निरास होना प्रज्ञापरिषह जय कहा जाता है । Δ

मैं सूख हूँ, मैं कुछ भी नहीं जानता, घोर तपस्या करने पर भी मुझे दिव्य ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त हो रहा है । ऐसा सोचकर अपनी श्रद्धा को कम नहीं करता है या ऐसे विचार जो अपने मन में न लाये वह साधक अज्ञान परिषहजय कहलाता है ।...

परम वैराग्य से मेरा हृदय शुद्ध हो गया है, मैं परम ज्ञानी हो गया हूँ मैंने समस्त रहस्यों को जान लिया है । मैं अरहन्त हूँ और धर्म का उपासक हूँ । व्रतों का पालन करना निरर्थक है इत्यादि बातों का जो मन में भी विचार नहीं करते ऐसे साधु अदर्शन परिषहजयी कहे जाते हैं । ×

साधक को इन परीषहों पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है क्योंकि परीषह विजय के बिना साधक का चित्त एकाग्र नहीं हो सकता और न ही उनके कर्मों का क्षय होगा । अब एक प्रश्न यह उठता है कि परीषहों की संख्या तो बहुत है, क्या सभी परीषह मनुष्य को एक साथ हो सकते हैं, अगर नहीं तो फिर साधक को एक साथ कितने परीषह हो सकते हैं । तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है कि एक साथ एक आत्मा को उन्नीस तक परीषह विकल्प से हो सकते हैं : * सर्वार्थसिद्धि

Δ (क) अङ्गपूर्वप्रकीर्णक दिशारदस्य शब्दग्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्कर प्रभाभिभूतखद्योतवन्नितरां नावभासन्त इति विज्ञानमद निरासः प्रज्ञापरिषहजयः प्रत्येतव्यः । (सर्वार्थ-सिद्धि ६/६/४२७)

(ख) राजवातिक ६/६/२६/६१२

... क) सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२७

[ख) चारित्रसार १२२/१

× विफल व्रतपरिपालनमित्येवमसमादधानस्य दर्शन विशुद्धि योगाद-दर्शन परिषह सहनमवसातव्यम् । (सर्वार्थसिद्धि ६/६/४२७)

* एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः । (तत्त्वार्थ सूत्र ६।१७)

में भी एक साथ उन्नीस परीषहों का होना माना गया है क्योंकि एक आत्मा में शीत व उष्ण परीषहों में से एक, शय्या, निषद्या और चर्या में से कोई एक परीषह होता है ये परीषह एक साथ नहीं हो सकते। इस तरह एक आत्मा में केवल उन्नीस परीषह ही होते हैं। △ कषायों का त्यागी—

ध्यान की सिद्धि के लिए मानव (ध्याता) को कषायों का भी त्यागी होना चाहिये क्योंकि ध्यान के घातक कषायों को त्यागे बिना कषायी व्यक्ति को ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। कषायों को चार प्रकार का दत्तलाया गया है १- क्रोध कषाय, २- मान कषाय, ३- माया कषाय, ४- लोभ कषाय।

क्रोध कषाय के सम्बन्ध में ज्ञानार्णव में कहा गया है कि चारित्र और विशिष्ट ज्ञान से बढ़ाया हुआ तप, स्वाध्याय और सयम का आधार जो पुरुष उसका धमरूपी शरीर है, वह क्रोध रूपी अग्नि से भस्म हो जाता है। × मुनियों को क्रोध को त्यागने के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया गया है क्योंकि क्रोध करने से न केवल हमारे शरीर का नाश होता अपितु हमारे सभी पुण्यकर्म भी भस्म हो जाते हैं, जो कि हमारे बड़े प्रयत्न से संचित किये गये होते हैं। इस कषाय की अग्नि को शान्त करने के लिए क्षमा ही अद्वितीय नदी है तथा क्षमा ही उत्कृष्ट संयमरूपी बाग की रक्षा करने के लिए दृढ़ बाढ़ है। इसलिए मुनियों को क्रोध को त्याग कर क्षमा को ग्रहण करना चाहिये।

क्रोध कषाय के समान ध्याता को मान कषाय का भी परित्याग करना परमावश्यक हो जाता है, क्योंकि मान कषाय से न केवल संचित किये गये सत्कर्म ही नष्ट होते हैं बल्कि व्यक्ति नीच गति को प्राप्त होता है। ज्ञानार्णव में कहा भी है कि कुल, जाति, ऐश्वर्य, रूप, तप, बल और धन इन आठ भेदों से जिनकी बुद्धि विगड़ गई है अर्थात् जो मान करते हैं, वे नीच गति को प्राप्त होते

△ सर्वार्थसिद्धि ६।१७

+ तपः श्रुत्यमाधारं वृत्तविज्ञानवर्द्धितम् ।

भस्मी भवति रोषेण पुंसां धर्मात्मकं वपुः ॥ (ज्ञानार्णव, सर्ग १६, श्लोक ४)

(७२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

है। ☀ यद्यपि मानकषाय दुर्गति का कारण होता है फिर भी इसके प्रशस्त व अप्रशस्त दो प्रकार बतलाये हैं १- प्रशस्तमान २- अप्रशस्त-मान ।— तीव्ररे प्रकार की कषाय अर्थात् माया कषाय के सम्बन्ध में भी शास्त्रों में इसी प्रकार की बातें लिखी गई है कि जब तक व्यक्ति माया मोह के चक्कर में पड़ा रहता है तब तक उसको ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती और ध्यान की सिद्धि के बिना मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है क्योंकि माया मोक्ष रोकने की अर्गला है। जब तक माया शल्य रहती है तब तक मोक्ष मार्ग का आचरण नहीं होता। आचार्य शुभचन्द्र जी ने भी कहा है कि—मैं मायावन्म्बो पुष्टों के अनुष्ठान, आचरण को कूट द्रव्य के समान अपारसन्नता हूँ ।...

'लोभ पाप कामूल है' यह लोकोक्ति सर्वथा सत्य है क्योंकि जितने भी दुष्कर्म हैं या अयोग्य कार्य हैं वे इस लोभ से स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं। ध्याता को इन चारों कषायों का त्यागना जरूरी है क्योंकि कषायों के मिटने से ही आत्मस्वरूप का अनुभव होता है। X

व्रत-धारणः—

ध्याता के सर्वप्रथम और अति-आवश्यक व्रत-गाँव महाव्रत हैं। श्रमण सर्वविरत होता है, वह तीन करण (कृत, कारित, अनुमोदना) और तीन योग (मा, वचन, काय) से व्रत लेता है। इसीलिए उसके अहिंसादि व्रत महाव्रत कहलाते हैं। ये महाव्रत पाँच हैं १- अहिंसा महाव्रत, २- सत्य महाव्रत, १- अचीर्य महाव्रत, ४- ब्रह्मचर्य महाव्रत, ५- अपरिग्रह महाव्रत। * ये श्रमण के मूलगुण हैं और

☀ ज्ञानार्णव सर्ग १६, श्लोक ४८

— अस्मान् करं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।

स उच्चैश्चेतसां मानः परः स्वपरघातकः ॥ (वही सर्ग १६, श्लोक ५६)

... कूटद्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् ।

अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् ॥ (ज्ञानार्णव, सर्ग १६ श्लोक ६०)

X उत्तराध्ययन सूत्र २१।१२

अष्टाङ्ग योग की भाषा में इन्हें यम कहा जाता है ।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार महाव्रत जाति-देश, काल (वेश, सम्प्रदाय निमित्त) आदि की सामाओं से मुक्त एक सावंधीम साधना है ।*

अहिंसा महाव्रत—

इनका आगमोक्त नाम 'सर्वप्राणातिपातविरमण' है । तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।'

अर्थात् प्रमाद से अपने या दूसरों के प्राणों का घात करना हिंसा है । ज्ञानार्णव में अहिंसा का लक्षण इस प्रकार बतलाया है कि जिसमें मन वचन काय से त्रस और स्थावर जीवों का घात स्वप्न में भी न हो उसे अहिंसा महाव्रत कहते हैं । +

यद्यपि भाषा की दृष्टि से अहिंसा निषेधात्मक शब्द है किन्तु इसका विधेयात्मक रूप भी हैं और वह है—प्राणि रक्षा, जीव दया, अभय दान, सेवा, क्षमा, मैत्री, आत्मोपम्य भाव आदि । योगी (ध्याता) निषेधात्मक रूप से किसी भी प्राणी की हिंसा किसी भी प्रकार से न करता है, न कराता है और न ही अनुमोदना करता है, मन से, वचन से, काय से । साथ ही वह अहिंसा के विधेयात्मक रूप का भी पालन करता है जीव-दया, विश्व कल्याण भावना तथा अपने उपदेशों और उज्ज्वल-चारित्र्य से प्रेरणा देकर लोगों को धर्म की ओर उन्मुख करके । अहिंसा महाव्रत का साधक जीव मात्र के प्रति करुणाशील एवं निवैर हो जाता है ।*

अहिंसा का स्वरूप जानने के लिए प्राणों के बारे में समझना बहुत जरूरी है क्योंकि प्राणों को हानि पहुँचाना ही हिंसा है और प्राण

* जाति-देश-काल समयानवच्छिन्नाः सार्व भौमा महाव्रतम् (योग-दर्शन २/३१)

+ वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्तते ।

चरस्थिराङ्गनां घातस्तदायं व्रतमीरितम् ॥ (ज्ञानार्णव, सर्ग ८, श्लोक ८)

* अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्यागः । (योगदर्शन, २/३५)

७४) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

रक्षा ही अहिंसा है। प्राण दस हजार के हैं १- श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, २- चक्षुरिन्द्रिय प्राण, ३- घ्राणेन्द्रिय प्राण, ४- रसनेन्द्रिय प्राण, ५- स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, ६- मनोबल प्राण, ७- वचनबलप्राण, ८- कायबल प्राण, ९- श्वासोच्छ्वास प्राण, १०- आयु प्राण। इन प्राणों को धारण करने वाले को प्राणी कहते हैं। महाव्रत की भावनायें उनकी स्थिरता के लिए हैं। = पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनायें हैं। Δ प्रत्येक महाव्रत की पाँच भावनायें हैं।*

अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनायें ये हैं-

ईर्या समिति-

ईर्या भाषेणानादान निक्षेपीत्सर्ग संज्ञकाः ।

सद्भिः समितयः पञ्च निर्दिष्टाः संयतात्मभिः ॥....

अर्थात् समित आत्मा वाले सत्पुरुषों ने ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ कही हैं।

स्वयं को या अन्य किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट या पीड़ा न हो इसलिए जीवों की रक्षा करते हुए देखभाल कर मार्ग पर चलें, ये ईर्या समिति भावना का लक्षण है।

मनोगुप्ति भावना-

मन को सदा शुभ और शुद्ध ध्यान में लगाये रखना; गुणी एवं ज्ञानी जनों के प्रति प्रमोद भाव और अधर्मी पापी जनों के प्रति दया भाव, हितकारो, मर्यादा सहित वचन बोलना ये मनोगुप्ति भावना का लक्षण हैं।

एषणा समिति भावना-

वस्त्र, पात्र, आहार, स्थान आदि वस्तुओं की गवेषणा, ग्रहणेषणा,

= तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च । (तत्त्वार्थसूत्र ७/३)

Δ उत्तराध्ययन ३१/१७

महाव्रत विशुद्धयर्थं भावनाः पञ्चविंशतिः ।

परमासाद्य निर्वेद पदवीं भव्य भावय ॥ (ज्ञानार्णवः १८/२)

* आचाराङ्ग २।३।१५।४०२

.... ज्ञानार्णव १८।३

परिभोगैषणा इन तीन एषणाओं में दोष न लगने देना, निर्दोष वस्तु के उपयोग का ध्यान रखना एषणा समिति भावना का लक्षण है।

आदान निक्षेपण समिति भावना—

शय्या, आसन, उपधान, शास्त्र और उपकरण आदि को पहिले भली प्रकार उठाये या रक्खे ये आदान निक्षेपण समिति भावना का लक्षण है।

उत्सर्ग समिति भावना—

जीव रहति पृथ्वी पर मल-मूत्र श्लेष्मादिक को बड़े यत्न से क्षेपण करना, खानपान की वस्तुओं को देखभाल कर लेना, स्वाध्याय आदि करके, गुरु आज्ञा प्राप्त करके, संयमवृद्धि के लिए शान्त एवं समत्व भाव से स्तोक मात्र आहार ग्रहण करना उत्सर्ग समिति भावना का लक्षण है। +

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार ये पाँच भावनायें इस प्रकार है १- वाग्गुप्ति २- मनोगुप्ति, ३- ईर्यासमिति, ४- आदाननिक्षेपणसमिति और ५- आलोकित पान भोजन। ☀ इनमें से ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण-समिति और मनोगुप्ति का स्वरूप कहा जा चुका है। वाग्गुप्ति का अर्थ वचन की प्रवृत्ति को रोकना है तथा आलोकितपान भोजन का अर्थ भोजन-पान ग्रहण करते समय देखने और शोधने का ध्यान रखना है।

सत्य महाव्रत—

इसका आगमोक्त नाम 'सर्वमृषावादविरमण' है। सत्य, योग का प्रकाश दीप है। श्रमयोगी की सम्पूर्ण चर्या, साधना और उपासना यहाँ तक कि उसके जीवन के अणु-अणु में प्रकाश एवं तेजस्विता लभ्य ही देता है। श्रमयोगी के हृदय में सत्य का दीपक सदैव प्रज्वलित रहता है।

योगी बिल्कुल भी असत्य आचरण नहीं करता, लेकिन जो वचन

+ आचाराङ्ग, द्वितीय श्रुत स्कन्ध, अध्ययन १५, सूत्र ७७८

☀ (क) वाङ्मनोगुप्तीर्यादान निक्षेपण समित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च । (तत्त्वार्थसूत्र ७/४)

(ख) मूलाराधना ३३७

(ग) चारित्तपाहुड ३१

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (७६)

जीवों का इष्ट हित करने वाला हो, वह असत्य हो तो भी सत्य है और जो वचन पापसहित हिसारूप कार्य को पुष्ट करता है, वह सत्य होकर भी असत्य और निन्दनीय है। असत्य अकेला ही समस्त पापों के बराबर है। योगी सत्य तथ्य को प्रगट करता है और सदा हित-मित-प्रिय वचन बोलता है।

सत्यव्रत में स्थिर रहने की पाँच भावनार्यें हैं....-

(१) अनुवीचि भाषण-

निर्दोष, मधुर और हितकर वचन बोलना, कटु सत्य न बोलना तथा शीघ्रता और चपलतासे बिना विचार किये न बोलना अनु-वीचि भावना का लक्षण है।

(२) क्रोध प्रत्याख्यान-

क्रोध के आवेश में न बोलना क्योंकि क्रोध की तीव्रता में मुँह से कठोर वचन निकल जाते हैं जिससे सुनने वाले का दिल दुःखी होता है। दुर्वचन का दाह मिटाना कठिन होता है।

(३) लोभ प्रत्याख्यान

लोभ के वशीभूत होकर भी झूठ बोला जाता है। पुत्र, स्वजन स्त्री, धन और मित्रों के लिए अपने लिए प्राण जाने पर भी असत्य वचन नहीं बोलना चाहिये। × अतः लोभ के उदय में साधु को नहीं बोलना चाहिये।

(४) भय प्रत्याख्यान-

मिथ्या भाषण का भय भी एक प्रमुख कारण है, अतः साधु के सामने जब भय का कारण उपस्थित हो तब उसे भाषण का त्याग करके मौन धारण कर लेना चाहिये। लेकिन दूसरी ओर भाषण की आवश्यकता होने पर वचन कहना ही पड़े तो ऐसा वचन कहना चाहिये जो सबका प्यारा हो, सत्य और समस्त जनों का हित करने

.... आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १५ सूत्र ७८०-८१, ८२

(ख) क्रोध लोभ भीस्त्वहास्य प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।

तत्त्वार्थ सूत्र ७/५

× ज्ञानार्णव सर्ग ६, श्लोक ४०

(७७) - जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वाला हो ।

(५) हास्य प्रत्याख्यान:-

हँसी मजाक में भी मुँह से झूठ निकल जाने की सम्भावना रहती है । अतः साधु को कभी भी भावावेश में आकर नहीं बोलना चाहिये । साधु को मित भाषी होना चाहिये और नोकषाय के उदय में भाषण का त्याग करके मौन धारण करना चाहिये ।

महर्षि पतञ्जलि ने कहा है सत्य में दृढ़ स्थिति हो जाने पर साधक की वाणी सत्य क्रिया-अर्थात् शाप, वरदान, आशीर्वाद देने में पूर्ण सक्षम हो जाती है । +

अचौर्य-महाव्रत-

इसका आगमोक्त नाम 'सव्वाओ अदिन्नादाणाओ विरमणं'- सर्व अदत्तादानविरमणं' है ।

'बिना दिये हुए किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु को न लेना' यह इस महाव्रत का निषेधात्मक रूप है; इसका विधेयात्मक रूप फलित होता है कि श्रमणयोगी को अपने लिए आहार-पानी आदि सभी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुयें उन वस्तुओं के स्वामी के स्वामी के द्वारा सहर्ष दिये जाने पर ही ग्रहण करनी चाहिए । क्योंकि चोरी करने वाले पुरुष के गुण को कोई भी नहीं गाता है तथा शास्त्र पढ़ना आदि विद्यार्थे विपरोत हो जाती है और अक्रोधि का टीका ललाट पर लग जाता है ।

अचौर्य महाव्रत को स्थिरता प्रदान करने वाली पाँच भावनायें हैं ।—

+ सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम् । (योगदर्शन २/३६)

☀ गुणा गौणत्वमायान्ति यान्ति विद्या विडम्बनाम् ।

चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्यादधते पदम् ॥

ज्ञानार्णव सर्ग १०, श्लोक ४

— (क) आचाराङ्ग २।३।१५।४०३

[ख] महापुराण २०।१६३

(ग) भगवती आराधना १२०८-१२०६

१- अनुवीचि-मितावग्रह-याचन:-

साधु को भली प्रकार विचार करके ही वस्तु या स्थान के स्वामी से वस्तु की याचना करनी चाहिये। अर्थात् पहले उसको अच्छी प्रकार से सोच समझ लेना चाहिये कि मैं जिससे वस्तु की याचना कर रहा हूँ वह उस वस्तु को देने की हैसियत रखता है या नहीं तभी उसको वस्तु माँगनी चाहिये। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार इस भावना का नाम अनुवीचि भाषण है।

२- अनुज्ञापित पान-भोजन-

अर्थात् योगी को कोई भी वस्तु गुरु को दिखाये बिना नहीं सेवन करनी चाहिये। जब तक गुरु उस वस्तु को सेवन करने की अनुमति न दें तब किसी भी वस्तु को पान करना निषेध है। योगी को गुरु-जनों की सेवा, रोगी, वृद्ध, तपस्वी आदि की सेवा करनी चाहिये इनकी सेवा विमुख नहीं होना चाहिए वरना उसे जी चुराने के कारण च च क. पाप लगता है।

३-अवग्रह का अवधारण-

योगी का स्थान, आहार, उपकरण या अन्य सामग्री आदि को किसी से ग्रहण करते समय अपनी मर्यादा में रहना चाहिये। मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये क्योंकि जब तक वह मर्यादित आचरण नहीं करेगा तब वह योगी की उपाधि प्राप्त नहीं कर सकता। मर्यादा के साथ-साथ उसे अधिक वस्तु को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए

४- अतिमात्र और प्रणीत पान भोजन का वर्जन-

योगी को अपनी मर्यादा से अधिक बार-बार ग्रहण करके अत्यधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिये अपितु जितना उसके लिए भोजन का अंश स्वीकृत है उतना ही भोजन ग्रहण करना चाहिये।

५- साधार्मिक अवग्रह याचन-

योगी को सांभोगिक साधुओं से आवश्यकता होने पर पात्र, उपकरण, वसति आदि की याचना करनी चाहिये और मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये।

तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार अचौर्यव्रत की पांच भावनायें

(७६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

निम्नलिखित हैं । +

१- शून्यागारावास-

पर्वत की गुफा, वृक्ष के कोटर आदि में निवास करना शून्या-गारावास है। निवास स्थान दो प्रकार के होते हैं-एक तो प्राकृतिक-जैसे-पर्वतों की गुफा आदि और दूसरे प्रकार के वे जो बनवाये जाते हैं।

२- विमोचितावास-

जिस आवास का दूसरों ने त्याग कर दिया हो तथा जो बिना दरवाजों का हो उसमें निवास करना विमोचितावास कहलाता है। ऐसे निवास स्थान जिन्हें किसी ने बनवा दिये हों, लेकिन बाद में छोड़कर चले गये हों ऐसे स्थानों को जो साधु उपयोग में लाते हैं उससे अचौर्य महाव्रत की रक्षा होती है।

३- परोपरोधाकरण-

जिस स्थान पर साधु ठहर गया हो और वहाँ ध्यान लगाता है लेकिन जब दूसरा साधु वहाँ आता है तो वह उसे रोकता है ऐसा करने से उसकी निजत्व की कल्पना होने से उस पर चोरी का दोष लगता है।

४- भिक्षुशुद्धि-

भिक्षा के जो उचित नियम बनाये गये हैं उनको यथोचित रूप से ध्यान में रखकर ही भिक्षा लेने के लिए कहा गया है जो इन नियमों का पालन नहीं करता उसको तृष्णा की वृद्धि होती है तथा चोरी का आरोप लगता है।

५- सधर्माविसंवादा-

पीछी और कमण्डलु ये शुद्धि के तथा शास्त्र यह ज्ञानार्जन के उपकरण है। साधु इनका स्वामी होता है, फिर भी यह कहने से कि यह मेरा कमण्डलु है यह मेरा पीछी है तुम इसे ले नहीं सकते।

+ शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाकरण भिक्षुशुद्धि सधर्माविसंवादाः पञ्च । (तत्त्वार्थसूत्र ७/६)

(ख) चारित्तपाहुड ३३

ऐसा कहने से ममत्व प्रकट होता है अतः चोरी का दोष लगता है। अतः इन दोषों से बचने के लिए सधर्माविसंवाद भावना बतलाई गई है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—

ब्रह्मचर्य योग के लिए आधार बिन्दु है, ब्रह्मचर्य की साधना किये बिना योग मार्ग पर एक भी कदम आगे रखना नामुमकिन ही नहीं असम्भव ही है। जब तक साधक ब्रह्मचर्य की साधना नहीं करता तब तक वह उध्वरेता नहीं बन सकता। आचार्य शुभचन्द्र ने ब्रह्मचर्य महाव्रत का गहन एवं विस्तृत विवरण देते हुए उसका इस प्रकार से निरूपण किया है

विदन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।

तदव्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ॥...

योगी की साधना का तेज बिन्दु ब्रह्मचर्य ही है, इसी से उसकी तपः साधना में तेज बढ़ता है और तेजस शरीर बलवान बनता है उसमें चमक और प्रकाश की किरणें प्रस्फुटित होती हैं। ×

इसीलिए योगियों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए कहा गया है उनको काम से बचने के लिए विवेक अर्थात् भेदज्ञान का उपाय बतलाया है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की स्थिरता के लिए पाँच भावनायें बतलाई गई हैं।*

१- स्त्री कथा वर्जन—

योगी के लिए स्त्री की कथा कहने व सुनने दोनों का ही निषेध है अतः योगी को इसका उल्लघन नहीं करना चाहिये अपितु पूर्ण

... ज्ञानार्णव, सर्ग ११ श्लोक १

× योगदर्शन २/३८

* [क] आचाराङ्ग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १५, सूत्र ७८६-८७

(ख) स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्ग निरीक्षणपूर्वव्रतानुस्मरण-
वृषेष्टरस स्वशरीर संस्कारत्यागाः पञ्च । (तत्त्वार्थसूत्र ७/७)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन [८१]

पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिये ।

मनोहर अंग-प्रत्यङ्गों के अवलोकन का त्याग—

योगी को स्त्रियों के काम को बढ़ाने वाले एवं मनोहर अङ्गों का अवलोकन नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे काम की वृद्धि होती है । यह योगियों के लिए निषेध है । इसलिए योगी स्त्रियों के अङ्गों की ओर दृष्टि निक्षेप नहीं करता है ।

३- पूर्व रति स्मरण त्यागः

योगी ने अपने जीवन में जो पहले स्त्री सम्बन्धी सुख भोगे हों उनका उसे स्मरण नहीं करना चाहिये अर्थात् योगी ने जो पूर्व अर्थात् दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व जो स्त्री सम्बन्धी सुखों का अनुभव किया हो बाद में उसे उन सुखों का स्मरण नहीं करना चाहिये ।

४- प्रणीत रस भोजन वर्जन-

योगी का कर्तव्य है कि वह कामवर्धक, रसीले, स्वादिष्ट और गरिष्ठ आहार का त्याग करे; क्योंकि ऐसे आहार से चित्त चंचल हो जाता है । तामसी भोजन से बुद्धि भी तामसिक हो जाती है जिससे श्रमण का चित्त चंचल हो जाता है । इसके साथ-साथ उसे भोजन की मात्रा भी कम खानी चाहिये अधिक भोजन करने से भी विकार बढ़ता है । तत्त्वार्थसूत्र में इसके स्थान पर वृष्येष्टरस त्याग बतलाया है । इसका तात्पर्य कामवर्धक गरिष्ठ रसों का त्याग है ।

५- शयनासन वर्जन.

योगी को आसन भी पवित्र प्रयोग में लाना चाहिये । स्त्री-पशु-नपुंसक आदि के द्वारा प्रयुक्त आसन शय्या आदि का प्रयोग उसके लिए निषिद्ध है । यदि मजबूरी वश उस आसन का प्रयोग करना ही पड़ जाये तो उनके उठने के एक मुहूर्त बाद ही उस आसन को ग्रहण करना चाहिए । तत्त्वार्थसूत्र में शयनासन वर्जन के स्थान पर स्वशरीर संस्कार त्याग का उल्लेख है । तदनुसार अपने शरीर के कामोद्दीपक संस्कारों का त्याग इस भावना में गर्भित है ।

६-अपरिग्रह महाव्रत-

परिग्रह का आशय यहाँ भाव और द्रव्य परिग्रह दोनों से है ।

साधक श्रमण को निग्रंथ कहते हैं, और ग्रन्थ का अभिप्राय परिग्रह से है। निग्रन्थ अपरिग्रही होता है। उसके अन्तर्मन में निर्ममत्व होता है। परिग्रह अथवा ममत्व भाव अशान्ति का कारण होता है और अशान्त चित्त कभी भी एकाग्र नहीं हो सकता और फिर जिस साधक का चित्त एकाग्र नहीं होगा अशान्त होगा, वह योग साधना करने में असमर्थ होगा इसलिए योग के लिए एकाग्र चित्त होना परम आवश्यक होता है। अतः अपरिग्रह योग साधना में सहायक होता है। जैन आगमों में भी वैराग्य या निर्वेद में लीन होने पर अनेक भव्यों को जाति स्मरण ज्ञान की उत्पत्ति के उदाहरण मिलते हैं।

परिग्रह महाव्रत को स्थिर करने के लिए पाँच भावनायें हैं। +

१- श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति-

योगी श्रिय या अप्रिय वचनों को सुनकर न तो खुशी का अनुभव करे और न ही दुखी हो अपितु कठोर से कठोर और कोमल से कोमल वचनों को सुनकर भी उसमें राग-द्वेष न करे। सदैव शान्त चित्त रहे।

२- चक्षुइन्द्रिय रागोपरति-

योगी को सुन्दर या असुन्दर, सुरूप-कुरूप आदि देखने पर राग-द्वेष की भावना मन में नहीं लानी चाहिये अपितु किसी भी रूप को देखकर मन चंचल नहीं करना चाहिए। सदैव शान्त भाव से सभी रूपों को देखकर रागद्वेष रहित रहे।

३. घ्राणेन्द्रिय रागोपरति-

सुगन्धित एवं दुर्गन्ध से युक्त किसी भी वस्तु को सूँघकर योगी को रागद्वेष नहीं करना चाहिये अपितु शान्त रहे मन को अशान्त न रखे।

४. रसनेन्द्रिय रागोपरति-

योगी को विभिन्न प्रकार के रसों के आस्वादन में उदासीन रहना चाहिए किसी भी प्रकार की रागद्वेष की भावना नहीं प्रदर्शित करनी चाहिए अपितु निष्काम भाव से शान्त चित्त रहना चाहिये।

+ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरोगद्वेषवर्जनानि पञ्च । (तत्त्वार्थ सूत्र ७/८)

स्पर्शनेन्द्रिय रागोपरति-

योगी को अपने जीवन में शीत-उष्ण, आदि स्पर्शों के प्रति सदैव उदासीन रहना चाहिये चाहे सर्दी हो या गर्मी, उसको सभी स्पर्शों में एक ही अहसास होना चाहिए, न कि शीत में शीतलता और न ही ग्रीष्म में उष्णता। उसको हल्के भारी स्पर्शों में भी शान्त चित्त रहना चाहिये। कभी भी अपने मन को अशान्त न रखे।

इस प्रकार योगी पाँच महाव्रतों का एवं उनकी पच्चीस भावनाओं का पालन करता है तो उसका चित्त सदैव एकाग्र एवं शान्त रहता है उसे किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता।

पच्चीस भावनाओं के अलावा कुछ अन्य सामान्य भावनायें भी हैं जिनसे पाँच महाव्रतों की पुष्टि होती है वे भावनायें इस प्रकार हैं-

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् । X

अर्थात् हिंसा आदि दोषों में ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्य का दर्शन ये भावना के योग्य है और हिंसादिक दुख हीं है।

इन्द्रिय निग्रह-

जब तक ध्याता इन्द्रियजयी नहीं होता तब तक उसको ध्यान की सिद्धि नहीं होती अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह किये बिना वह ध्यान की प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि इस संसार में इन्द्रिय जनित सुख ही दुख हैं क्योंकि यह सुख अज्ञान से परिपूर्ण होता है। ज्ञानीजन इस सुख से सुखी नहीं होते लेकिन अज्ञानी लोग इस सुख को आनन्द की प्राप्ति मानते हैं जो मिथ्या है इसीलिए जीवों को अपनी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये। उनके वशी नहीं होना चाहिए क्योंकि जीवों के इन्द्रिय जैसे-जैसे वश में होती है, वैसे-वैसे उनके हृदय में ज्ञान रूपी दीपक प्रकाशमान होता रहता है। + इन्द्रियों को

X तत्त्वार्थ सूत्र ७/६

+ यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यान्ति देहिनाम् ।

तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥ (ज्ञानार्णव, सर्ग २०, श्लोक ११]

जीतने के लिए सच्चा ज्ञान और वैराग्य दोनों साधन होने चाहिए। ये दोनों प्रथमतः मन को जीतने के भी साधन है। इन्द्रियाँ उन बिजलियों के समान हैं जो कन्दोल अर्थात् निग्रन्त्रण में रखे जाने पर हमें प्रकाश प्रदान करती हैं और यन्त्रों द्वारा संचालित होकर हमारे कार्य सिद्ध करती हैं, लेकिन अनियन्त्रित होने पर वे ही अग्नि-काण्डादि के द्वारा हमारा सब कुछ नष्ट कर हमें बरबाद कर देती हैं। इसीलिए कभी भी इन्द्रियों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देना चाहिए, अपितु स्वयं इन्द्रियों पर हावी होना चाहिये तभी मानव सुखी रह सकता है और यही सच्चा सुख है। भौतिक सुख तो मात्र मृग मरीचिका के समान होता है जो कि दिखने में तो सुखदायी लगता है, लेकिन क्षण भर के बाद वही सुख-दुःख में परिवर्तित हो जाता है। अतः ध्यान की सिद्धि के लिए इन्द्रियों का निग्रह परमावश्यक है।

मनोनिग्रह-

इन्द्रिय निग्रह के समान मन का निग्रह भी ध्यान की सिद्धि के लिए आवश्यक है, क्योंकि जिसने मन का रोध किया अर्थात् जिसने मन को वश में कर लिया उसने सबको वश कर लिया अन्यथा जिसने मन को वश में नहीं किया वह इन्द्रियों को भी वश में नहीं कर सकता। मन की शुद्धि भी जरूरी है क्योंकि मन की शुद्धता से ही ध्यान की निर्मलता भी होती है और कर्मों की निर्जरा भी होती है।☀ मन की शुद्धता से विवेक बढ़ता है। जिस मुनि ने अपने चित्त को वश में नहीं किया उसका तप, शास्त्रों का अध्ययन अथवा धारण, ज्ञान, कायक्लेश आदि सब व्यर्थ हैं क्योंकि मन के वश में हुए व्यक्ति को ध्यान की सिद्धि नहीं होती एवं मन को जीते बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता। मन को जीतने पर व्यक्ति सहज ही जितेन्द्रिय हो जाता है। मन के संकल्प और विकल्प रूप व्यापार को रोकना अथवा मन की चंचलता को दूर कर उसे स्थिर करना 'मन को जीतना' कहा जाता है।.... तत्त्वानुशासन में मन को

☀ वही सर्ग २२, श्लोक १५

... इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः।

मन एवं जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः॥ (तत्त्वानुशासन ७६)

(८५) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जीतने के दो उपाय बताये गये हैं १- अनुप्रेक्षाओं का संचिन्तन और २- स्वाध्याय में नित्य उद्यमी रहना । इन दोनों साधनाओं में निरन्तर लगे रहने से व्यक्ति मन को अवश्य ही जीत लेता है । × और जब मन को अन्य विकल्प व विकारों से रहित करके आत्म स्वरूप में स्थिर करे तब ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, केवल बाह्य तप से उत्तम पद पाना असम्भव है । जब मन अविद्या का उल्लंघन करके निजस्वरूप को प्राप्त हो जाता है तब वही ध्यान है, वही ध्येय है और वही विज्ञान है । *

ध्यान और अनुप्रेक्षा-

जैन दर्शन में सकषाय और अकषाय इन दो मार्गों का निर्देश है । △ जैसे विलुप्त वृत्ति में अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष एवं अभिनिवेश ये पाँच क्लेश आते हैं, वैसे ही सकषाय वृत्ति में भी मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का वर्णन है । — इस प्रकार से संसार के मूल कारण में अज्ञानता एवं मिथ्यात्व ही है । इसी मोह माया के चक्कर में पड़कर मानव इस संसार में अनन्त काल से भटकता फिर रहा है । इसलिए पिछले जन्म के संस्कारों तथा वर्तमान जन्म के कर्मों को नष्ट करना जीव के लिए परमावश्यक है ताकि वह मोक्ष प्राप्त करके जन्म व मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो सके लेकिन मानव की इन्द्रियाँ तथा मन जीव को हमेशा अपने मार्ग से विचलित करने एवं रागद्वेषादि को बढ़ाने में निरन्तर लगे रहते हैं इसलिए उनसे वजय प्राप्त करने के लिए अनुप्रेक्षाओं का विधान है ।

‘प्रेक्षा’ अर्थात् देखना, गहराई से देखना, किन्तु उसमें कोई चिन्तन मनन न हो । ‘अनु’ उपसर्ग लगते ही प्रेक्षा शब्द का अर्थ ही

× संचिन्त्यन्नूप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ।

जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियाऽर्थ-पराङ्मुखः ॥ [तत्त्वानुशासन ७६]

* तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्त्वमेव वा ।

येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरी भवेत् ॥ [ज्ञानार्णव,

२२/२०)

△ सकषायकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः । [तत्त्वार्थ सूत्र ६/४]

— वही ८/१

बदल जाता है उसमें चिन्तन मनन का समावेश हो जाता है । इस प्रकार अनुप्रेक्षा का अथं बार-बार देखना या चिन्तन मनन पूर्वक देखना और मन, चित्त और चैतन्य को उस विषय में रमाना, उन उन संस्कारों को दृढ़ीभूत करना होता है । +

अनुप्रेक्षाओं से कर्मों का बन्धन शिथिल होता है तब अशुभ विचारों का आना कम हो जाता है अतः अनुप्रेक्षाएँ कर्म के निरोध की साधना भी है । जिसकी आत्मा भावना योग से शुद्ध होती है, वह सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ।— इस प्रकार से हम देखते हैं कि भावना अर्थात् अनुप्रेक्षा का जीव से बहुत गहरा सम्बन्ध होता है और भावनाओं का चिन्तन करने से आत्मा की शुद्धि होती है । इसलिए बार-बार ईश्वर का जप करना बतलाया गया है । अनुप्रेक्षाओं को बैराग्य की जननी भी कहा है । Δ अनुप्रेक्षा का चरम उद्देश्य संवर की सिद्धि है । *

अनुप्रेक्षाओं का वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में काफी अधिक मात्रा में किया गया है—आचार्य उमास्वामी ने इसका अर्थ करते हुए कहा है कि ग्रन्थ. पाठ और उसके अर्थ का मन से चिन्तन अनुप्रेक्षा है । उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में नेमिचन्द्र ने कहा है कि अनुप्रेक्षा से संवर की प्राप्ति होती

+ (क) अणुपेहा णाम जो म्णसा परियट्टेइ णो वायाए । (दशवैका-
लिक चूर्णि, पृ० २६)

(ख) परिज्ञातार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुनः पुनः अभ्यसनं अनुशीलनं
सानुप्रेक्षा । (कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका ४६६)

[ग] शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा । (सर्वार्थसिद्धि
६/२/४०६)

☀ उत्तराध्ययन २६/२२

— भावणाजोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।

नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥ (सूत्र कृताङ्ग
१/१५/५)

Δ बैराग्य उपावन माई, चित्तो अनुप्रेक्षा भाई । (छहडाला ५/१)

* तत्त्वार्थधिगमसूत्र ६/२

(८७) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

है। इसको व्याख्यापित करने के लिए 'चिन्तनिका' शब्द का प्रयोग किया है।... सूत्र कृतांग में अनुप्रेक्षा के स्थान पर भावना शब्द का प्रयोग किया गया है। आचाराङ्ग सूत्र से लेकर दशवैकालिक सूत्र तक अनेक ग्रन्थों में इसका वर्णन यत्र-तत्र मिलता है। आगम ग्रन्थों में अनुप्रेक्षाओं का जो वर्णन है वह गद्य और पद्य दोनों रूप में है। परन्तु उत्तरकालीन युग में इस विषय पर विस्तृत पद्य साहित्य रचा गया है। संस्कृत में इस विषय पर सर्वप्रथम ग्रन्थ महापुराण है इसके रचयिता जिनसेन हैं।

षट्खण्डागम की धवलाटीका में इसे परिभाषित करते हुए वीरसेनाचार्य कहते हैं 'कम्मणिज्जरणट्ठट्ठिमज्जाणुगयस्स परिगम-णमणुपेक्खाणाम सांगीभूइकदीए कम्मणिज्जरट्ठमणुसरणमणुवेक्खणा' ×

अनुप्रेक्षाओं का यह चिन्तन केवल भारतीय विचारकों तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु पाश्चात्य कवियों ने भी इस पर चिन्तन किया है। यह बात अलग है कि वे अनुप्रेक्षा जैसे शब्द से परिचित न हो। उनके विचारों में अनुप्रेक्षाओं से बहुत कुछ समानता दिखाई देती है।

अनुप्रेक्षाओं के बारह प्रकार बताये गये हैं—

१- अनित्य अनुप्रेक्षा २- अशरण अनुप्रेक्षा ३- ससार अनुप्रेक्षा ४- एकत्व अनुप्रेक्षा ५- अन्यत्व अनुप्रेक्षा ६- अशुचि अनुप्रेक्षा ७- आस्रव अनुप्रेक्षा ८- संवर अनुप्रेक्षा ९- निर्जरा अनुप्रेक्षा १०- लोक अनुप्रेक्षा ११- बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा १२- धर्म अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा के इन प्रकारों का वर्णन बारस अणुवेक्खा*, तत्त्वार्थ सूत्र Δ, प्रशमरति प्रकरण, + मूलाचार☀, स्वामिकातिकेपा—

... उत्तराध्ययन सूत्र टीका २६/२२

× षट्खण्डागम पुस्तक ६, पृ० २६२-६३

* अद्भवमसरणमेगतमण्णत्तसंसार लोयमसुइत्तं।

आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधि च चित्तिज्ज ॥ [बारस अणुवेक्खा २]

Δ तत्त्वार्थ सूत्र ६/७

+ प्रशमरतिप्रकरण ८/१४६-५०

☀ मूलाचार, द्वादशानुप्रेक्षाधिकार पृ० १-७६

नुप्रेक्षा—, शान्त सुधारस Δ , मनोऽनुशासन \ast , बृहद्द्रव्यसंग्रह \times , ज्ञानार्णव... आदि ग्रन्थों में भी है। यद्यपि इनके क्रम में कहीं-कहीं भेद है परन्तु प्रकारों में अन्तर नहीं है।

अनित्य अनुप्रेक्षा—

शरीर, इन्द्रिय, विषय और भोगोपभोग ये जितने भी पदार्थ हैं सब जल के बुलबुलों के समान शीघ्र समाप्त होने वाले फेन के समान है, किन्तु अज्ञानी व्यक्ति इनके प्रति मोह में पड़कर इनको नित्य मान बैठता है जबकि ये सब अनित्य ही हैं। यह शरीर अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। → ज्ञानार्णव में भी कहा है—

ये चात्र जगतीमध्ये पदार्थाश्चेतनेतराः।

ते ते मुनिभिर्हृदिदृष्टाः प्रतिक्षणविनश्वराः ॥ [१]

मानव को अपने विषय में मोह को त्याग कर ये जान लेना चाहेंगे कि जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है। इसलिए इस संसार को अनित्य, अस्थिर, नाशवान समझना और ऐसा ही चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। (२) जब वह इस शाश्वत सत्य को समझ जाता है तब जीव का अपने शरीर के प्रति ममत्व विनष्ट हो जाता है। अन्य ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर अनित्यता का वर्णन प्राप्त होता है। (३) आचार्य उमास्वाति ने भी

— स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा २-३

Δ शान्तसुधारस १/७-८

\ast मनोऽनुशासन ३/२२

\times बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ३५

... ज्ञानार्णवः सर्ग २ श्लोक ७

→ आचाराङ्ग सूत्र ५/२/५०६

(१) ज्ञानार्णवः, सर्ग २, श्लोक ४६

(२) उत्तराध्ययन १६/१३

(३) औपपातिक सूत्र २३

[ख] दशवैकालिक सूत्र चूलिका १, १६

(ग) उत्तराध्ययन १८/११-१३

(घ) सर्वार्थसिद्धि ६/४/४१३

(८६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

एक-एक अनुप्रेक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। साधक अनित्या-
नुप्रेक्षा में सांसारिक सम्बन्धों की अनित्यता का अनुभव कर आसक्ति
को विसर्जित करता है। + शुभचन्द्र ने अनित्य भावना के सम्बन्ध में
स्त्री, यौवन, धन, परिजन, पुत्र और यह शरीर सभी गान्धर्वनगर एवं
विद्युत् की तरह चंचल है ऐसा कहा है।

बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत समस्त अनुप्रेक्षाओं में जितना सुन्दर
और विस्तृत विवेचन अनित्य अनुप्रेक्षा का मिलता है उतना अन्य का
नहीं। जैन साहित्य में भी अनित्य अनुप्रेक्षा का उतना विस्तृत विवेचन
नहीं है। बौद्ध साहित्य में उसके विस्तार का कारण क्षणिकवाद है।
धम्मपद में इसका वर्णन इस प्रकार से किया गया है—

सव्वे संखारा अनिच्चा ति यदा पञ्चाय पस्सति ।

अथ निब्बिन्दती दुक्खे एस मग्गो त्रिसुद्धिया ॥

२- अशरण अनुप्रेक्षा—

सामान्य मनुष्य प्रतिदिन अपने सामने संसार और संसारी लोगों
की प्रवृत्तियों को देखता है कि लोग एक दूसरे के दुख, पीड़ा एवं कष्ट
को बाँट नहीं सकते लेकिन फिर भी एक दूसरे के प्रात मोह पाश में
फंसे रहते हैं। जब किसी की मृत्यु आती है तो कोई भी उसे काल के
मुंह से बचा नहीं सकता क्योंकि काल दुर्निवार है और सभी प्राणी
काल के वश में हैं। यहाँ सभी अपनी रक्षा के लिए सोचते हैं। मानव
जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधियों से घिरा रहता है यहाँ इसका कोई
भी शरण नहीं है, काल किसी का इन्तजार नहीं करता और विद्या,

तत्त्वार्थ सूत्र टीका ६/७

☀ [क] ज्ञानार्णवः, सर्ग २, श्लोक ४७

(ख) परमट्ठण दु आदा देवासुर मणुवरायविविहेहिं ।

वदिरित्तो सो अप्पा सस्सादमिदि चित्तये णिच्चं ॥ (बारस-
अणुवेक्खा ७)

... विद्या मत्र महौषधिसेवां, सृजतुवशीकृत-देवां ।

रसतु रसायनमुपचयकरणं, तदपि न मुञ्चति मरणम् ॥ [शान्त-
सुधारस २/४)

मन्त्र और औषधियों में से किसी से भी मरण टलता नहीं है ।... इसलिए भगवान ने साधक को अशरण अनुप्रेक्षा का सूत्र आचाराङ्ग में दिया है—

णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा ।

तुमपि तैसि णालं ताणाए वा, सरणाए वा ॥ २/१६४

अशरण अनुप्रेक्षा का साधक इन सब साधनों की नश्वरता और क्षण-क्षण बदलते रूप को देखकर इनके प्रति रागद्वेष की भावना का त्याग कर देता है । वह धर्म की शरण को ही वास्तविक शरण मानता है और 'अप्पाणं शरणं गच्छामि' में आत्मा की शरण में जाता हूँ । इस सूत्र को मन में बिठा लेता है । यदि त्रिश्वयात्मक दृष्टि से विचारा जाये तो अपनी आत्मा का ही शरण है, और व्यवहारिक दृष्टि से वीतरागता को प्राप्त हुए पंचपरमेष्ठी का ही शरण है । अतः सब की शरण छोड़कर इन दो की शरण में जाना चाहिये । × जबकि तत्त्वार्थ सूत्र में 'जग में धर्म के सिवा और कोई शरण नहीं है' ऐसा कहा गया है और इसका चिन्तवन करना अशरणानुप्रेक्षा है । * धर्म से ही मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है ।

३- संसार अनुप्रेक्षा—

संसार का अभिप्राय है—जन्म मरण का चक्र । यह भ्रमण, नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव- इन चार गतियों में होता है और प्राणी इन्हीं में भ्रमण करता रहता है । Δ संसार अनुप्रेक्षा का लक्षण— संसारणं संसारः । भवाद् भवगमनं नरकादिषु पुनर्भ्रमणं वा ।

संसार में सच्चा सुख लेशमात्र भी नहीं है वह दुखों से भरा है । प्रत्येक जीव संसारण कर रहा है । संसार भावना का चिन्तवन करता हुआ साधक संसार के दुखों, जन्म जरा मरण की पीड़ा एवं चार गतियों की पीड़ा का विचार करता है और सोचता है कि 'एगंतदुक्खं जरिये व लोय' । + वह भगवान महावीर के शब्दों में 'पास लोए

× ज्ञानार्णव, सर्ग २, श्लोक १६

* तत्त्वार्थ सूत्र टी० ६/७

Δ ज्ञानार्णव सर्ग २, श्लोक ।

+ सूत्रकृताङ्ग १७/११

(६१) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

महबन्धयं☀ संसार को महाभयानक देखता है । इस भावना से साधक संसार के प्रति निराशा या भय की भावना से व्याकुल नहीं होता । संसार के स्वरूप का ऐसा चिन्तन करना संसार अनुप्रेक्षा है ।—

४- एकत्व अनुप्रेक्षा-

एकत्व अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने से व्यक्ति अनुभव करता है कि वह अकेला ही आया है और अकेला ही जायेगा । सुख-दुख, रोग-शोक उसी को सहन करने पड़ते हैं ।△ उसका इस संसार में कोई भी साथी नहीं है । आचाराङ्ग सूत्र में यह अनुप्रेक्षा इन शब्दों में वर्णित की गई है 'अइ अच्च सव्वतो संगण महं अत्थित्ति इति एगो-हमसि' ।✳ साधक आत्मा को बहुत ही इष्ट, कान्त, प्रिय और मनोज्ञ देखने, जानने लगता है और समझने लगता है ।× अपनी आत्मा के गुणों में उसकी रुचि इतनी बढ़ती जाती है कि वह उसी में मग्न रहता है । वह इस प्रकार के एकत्व का आसरा लेता है । वह ऐसा सोचने लगता है कि भाई-बन्धु जितने भी साथी है वे उसके दुखों को दूर नहीं कर सकते वे तो मात्र उसके श्मशान तक के ही साथी हैं कोई उसके साथ नहीं जाता, एक केवल धर्म ही ऐसा है, जो उस के साथ जाता है ।... जिस समय जीव भ्रमरहित होकर ऐसा चिन्तन करने लगता है तो उस समय उसका संसार से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है क्योंकि सांसारिक बन्धन तो मोह का कारणभूत होता है, और जब मोह समाप्त हो जाता है तो जीव मोक्ष का अधिकारी हो जाता है ।→ बौद्ध साहित्य में भी एकत्व अनुप्रेक्षा का वर्णन मिलता

☀ आचाराङ्ग ६/१

— योगशास्त्र ४/६६

△ स्वामिकातिकेयानुप्रेक्षा ७४-७५

✳ आचाराङ्ग सूत्र ६/३८, ८/६७

× मज्झिमि आया एगे भंडे, इट्ठे, कंते, पिये, मणुन्ने । (भगवती सूत्र २/१)

... तत्त्वार्थ सूत्र टीका ६/७

→ ज्ञानार्णव सर्ग २, श्लोक १०

है।... एकत्व भावना के अनुचिन्तन से जीव में पुरुषार्थ जागता है, वह इतना पुरुषार्थी ही जाता है कि अकेले ही साधना पथ पर चलन की क्षमता रखने लगता है। भगवान के शब्दों में 'एगं चरेज्ज-धम्मो' × अर्थात् अकेले ही धर्माचरण करो। विभिन्न ग्रन्थों में भी एकत्व अनुप्रेक्षा का वर्णन मिलता है।*

६- अन्यत्व अनुप्रेक्षा-

अन्यत्व अनुप्रेक्षा के चिन्तन से जीव भेद विज्ञान की साधना करता है। संसार के सारे पदार्थ मुझसे भिन्न है और मैं उनसे भिन्न हूँ। इस जगत् में जो बड़ और चेतन पदार्थ प्रःणी के सम्बन्ध रूप हुए हैं वे सब ही अपने-अपने स्वरूप से भिन्न हैं कोई भी पदार्थ अभिन्न नहीं है, केवल आत्मा सबसे अन्य है। शरीर आदि का चेतन आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वे सभी जीव के स्वभाव नहीं हैं। Δ इस प्रकार बाह्य पदार्थों एवं शरीर से अपने को भिन्न चिन्तन करना ही अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।— साधक का दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ममत्व ही सारे दुखों एवं चिन्ताओं का कारण है अतः वह ममत्व को त्याग कर समत्व में लीन हो जाता है जिससे उसे मोक्ष के सुख की प्राप्ति हो जाती है।

६- अशुचि अनुप्रेक्षा-

शरीर अत्यन्त अपवित्र है जिसमें रुधिर, मांस एवं चर्बी आदि

— एको उत्पद्यते जन्तुमिग्रयते चैक एव हि ।

नान्यस्य तद्वयथाभागः किं प्रियैर्विष्णकारकैः । [बोधिन्यावतार

८/३३]

× सूत्रकृताङ्ग २/१/१३

* उत्तराध्ययन ६/१५-१६, [ख] महाप्रत्याख्यान ३७-४०, [ग] भक्त परिज्ञा ८६

Δ क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहेदेहिनोः ।

मेदो यदि ततोऽप्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥ (पद्मनन्दि पंच-विंशतिका ६/४६)

— तत्त्वार्थं सूत्र टीका ६/७

दुर्गन्धयुक्त पदार्थ भरे पड़े हैं। × यह शरीर जैसा बाहर है वैसा ही भीतर है। साधक इस अशुचि शरीर को अन्दर ही अन्दर देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है जिनसे निरन्तर दुर्गन्धयुक्त पदार्थ झरते रहते हैं। + इसे चाहे जितना भी स्नानादिक कराये या सुगन्ध लगाये लेकिन इसकी अपवित्रता दूर नहीं हो सकती शरीर की अपवित्रता को देखने से साधक के मन में इसके प्रति जो राग या आसक्ति होती है वह मिट जाती है उसका प्रेम, ममत्व नष्ट हो जाता है वह पावनता तथा पवित्रता की ओर मुड़ता है। पवित्रता उसे आत्मा व आत्मिक गुणों में दिखाई देती है। उसका शरीर के सौन्दर्य के प्रति मोह खत्म हो जाता है। वह आत्मा पर अपना ध्यान केन्द्रित करने लगता है क्योंकि आत्मा तो निर्मल है अमूर्तिक है और उसके मल लगता ही नहीं। अशुचि अनुप्रेक्षा साधक का अपवित्रता से पवित्रता की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त करती है। उत्तराध्ययन में भी इसका वर्णन किया है।☀

६- आस्रव अनुप्रेक्षा-

अब तक छः अनुप्रेक्षायें बाह्य जगत से सम्बन्धित थीं जिनके द्वारा जीव बाह्य जगत् के प्रति अपने मिथ्यात्व मोह को छोड़ता है लेकिन आस्रव अनुप्रेक्षा के द्वारा साधक अपने आन्तरिक जगत का अबलोकन करता है। मन, वचन, काय की क्रिया को योग कहते हैं और इसी क्रिया को आस्रव भी कहते हैं।— मन, वचन, काय के व्यापार ही कर्मों के आस्रव के द्वारा

× ज्ञानार्णव सर्ग २, श्लोक २

+ जहा अंतो तथा बाहि, जहा बाहि तथा अन्तो।

अंतो अंतो देहन्तराणि पासति पुढो वि सवंताइं ॥ (आचाराङ्ग २/५/६२)

☀ (क) उत्तराध्ययन १६/१२, १३

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६/७/४१६

— (क) ज्ञानार्णव सर्ग २, १

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र टीका ६/१

हैं। △ आस्रव पाँच प्रकार का होता है १- मिथ्यात्व, २- अविरति, ३- प्रमाद, ४- कषाय और ५- योग। इनमें से साधक मिथ्यात्व का तो पहले ही त्याग कर देता है शेष चार बचते हैं। आस्रव आत्मा के छेद हैं जिस प्रकार नाव में छेद होने से पानी नाव में भरकर उसे डुबाने लगता है उसी प्रकार आस्रव के रूप में आत्मा में कर्मजल भरता है जो उसे संसार रूपी समुद्र में डुबाने लगता है। लेकिन आस्रव अनुप्रेक्षा से जीव उन छिद्रों को देखता व समझता है और उन कमियों को दूर भी करता है।

८- संवर अनुप्रेक्षा-

संवर आस्रव का विरोधी है। आस्रव के निरोध को संवर कहा गया है।... साधक आस्रव के विपरीत प्रवृत्ति करके संवर करता है। × संवर के बिना आत्मशुद्धि होना कठिन है। आस्रव का निरोध कारण हैं और संवर कार्य है। कारण में कार्य का उपचार करके आस्रव के निरोध करने को संवर कहा गया है। संवर द्रव्यसंवर एवं भावसंवर से दो प्रकार का है। द्रव्यरूप से वह मन, वचन, काय को एवं कषायों आदि को स्थिर रखता है और भावरूप से मन के संकल्पों विकल्पों आदि को रोकता है।

९- निर्जरा अनुप्रेक्षा-

निर्जरा आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है। फल देकर कर्मों का क्षरण निर्जरा है। * पूर्व संचित अथवा बंधे हुए कर्मों को तप के द्वारा नष्ट करना निर्जरा है।— इम अनुप्रेक्षा के चिन्तन में साधक निर्जरा के

△ मनोवाक्यकायकर्माणि योगाः कर्म शूभाशुभम् ।

यदाभवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः ॥ (योगशास्त्र ४/७४)

पुव्वत्तासवभेयो णिच्छयणएण णात्थि जीवस्स ।

उदयासवणिम्मुवकं अप्पाणं चित्तए णिच्चं ॥ (वारसअणुवेक्खा ६०)

.... ज्ञानार्णव २/१, तत्वार्थ सूत्र टी० ६/१

× वृहद्दनयचक्र १५६ [देवेसेनाचार्यकृत]

* योगशास्त्र ४/८०

△ तत्वार्थसूत्र टी० ६/७

— ज्ञानार्णव २/१

लक्षण, स्वरूप व साधनों के बारे में चिन्तन मनन करता है जिससे उसकी आत्मा में तप, दान व शील के प्रति आकर्षण बढ़ता है। निर्जरा दो प्रकार की है १-सकाम निर्जरा २- अकाम निर्जरा।☀ इनमें सकाम निर्जरा केवल मुनियों के होती है और जीवों को अकाम निर्जरा होती है। निर्जरानुप्रेक्षा आत्मा की शुद्धि का साधन है इसके द्वारा जीव अपनी आत्मा की शुद्धि का प्रयास करता है, जिससे उसमें अद्भुत साहस एवं तितिक्षा वृत्ति जागृत होती है।

१०- लोकानुप्रेक्षा-

लोकानुप्रेक्षा में साधक जीव और अजीव की विविधताओं तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का चिन्तन करता है। यह लोक अनादि एवं अकृत्रिम है तो भी प्राणी नाना दुःख उठा रहे हैं यही लोकानुप्रेक्षा है। + यह लोक अनादि काल से स्वयमेव सिद्ध है, तीन वातवलयों से वेष्टित है, निराधार है। × इसके सम्पूर्ण चिन्तन से जीव की आत्मा शुद्ध होती है, वह लोक के वास्तविक स्वरूप को पहचानने लगता है।

११- बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा-

इस भावना का अनुचिन्तन करते हुए साधक जीव की क्रमिक उन्नति पर विचार करता है और सोचता है कि मेरा अनादि काल से आवागमन के बन्धनों में जकड़ा हुआ है उसने प्रत्येक योनि (तिर्यच, नरक, देव एवं मनुष्यादि) में भ्रमण कर लिया है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय सब कुछ बना पशु-पक्षी बना किन्तु मुक्ति कहीं भी नहीं मिली अब मुझे मुक्ति प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण बल, पराक्रम लगा देना चाहिये। ऐसा विचार करना ही बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

☀ सकामाकामभेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम् ।

निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम् ॥ (ज्ञानार्णव २/२)

+ तत्त्वार्थसूत्र टी० ६/७

(ख) ज्ञानार्णव २/३

× योगशास्त्र ४/१०४-१०६

१२-धर्मानुप्रेक्षा-

धर्म आत्मा की उन्नति का साधन है। धर्म से ही आत्मा को श्रेयस् की प्राप्ति होती है। धर्म से ही प्राणी संसार के दुखों से मुक्ति पाकर सुख की प्राप्ति करता है। = वह धर्म अहिंसा, संयम और तप रूप उत्कृष्ट मंगल है। Δ जिस धर्म ने जगत् को पवित्र करके उसका उद्धार किया उसको देवता भी नमस्कार करते हैं। ✱ धर्म ही गुरु, मित्र स्वामी है। असहायों का सहायक है एवं दुर्बलों का रक्षक है। धर्म साधना में साधक धर्म से सूक्ष्म रहस्य को हृदयंगम कर लेता है जिससे उसके जीवन में सुख शान्ति का सागर लहराने लगता है और उसकी आत्मा को उन्नति होती है। जो बातें अपने लिए अनिष्टकारी हैं, वे कैसे किसी के लिए इष्ट हो सकती है ऐसा सोचकर सबके साथ अपने जैसा व्यवहार करना ही धर्म का मुख्य चिन्त है। ... मुनियों ने क्षमादि दस धर्मों का वर्णन किया है। X

१- क्षमा २- मार्दव ३- शौच ४- आज्ञव ५- सत्य ६- संयम ७- ब्रह्मचर्य ८- तप ९- त्याग १०- आकिंचन्य

स्थानाङ्ग सूत्र में इनके नाम इस प्रकार दिये गये हैं १- क्षान्ति २- मुक्ति, ३- आज्ञव, ४- मार्दव, ५- लाघव, ६- सत्य, ७- संयम, ८- तप, ९- त्याग, १०- ब्रह्मचर्य। ✱

= कर्मनिवर्हण, संसार दुःखतः सत्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे । (रत्न-करण्ड श्रावकाचार श्लोक २)

Δ दशवैकालिक १/१

✱ ज्ञानार्णव २/१

.... ज्ञानार्णव, सर्ग २, श्लोक २

X (क) तितिक्षा मार्दवं शौचमाज्ञवं सत्य संयमौ ।

ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्य धर्म उच्यते ॥ वही २/२०

(ख) उत्तम क्षमा मार्दवाज्ञवं शौच सत्य संयम तपस्त्यागाकिञ्चन्य
ब्रह्मचर्याणि धर्मः । (तत्वाथं सूत्र ६/६]

(ग) समवायांग, समवाय १०

✱ खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, वभ चेरवासे । (स्थानाङ्ग १०/७१२)

कहीं-कहीं इनके क्रम में भेद मिलता है लेकिन उनका स्वरूप एक ही है, भेद नहीं है।

इस प्रकार इन बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन मनन से साधक अपनी वैराग्य भावना को दृढ़ करता है। इनके निरन्तर अभ्यास से हृदय में उत्पन्न कषाय रूपी अग्नि बुझ जाती है तथा अज्ञान रूपी अन्धकार मिटकर ज्ञानरूप दीपक प्रकाशित हो उठता है। इन्हें संवर का कारण कहा गया है। Δ ये बारह अनुप्रेक्षायें वैराग्य की जननी भी कहलाती है।

ध्यान के योग्य आसन—

जैन योग में आसन के अर्थ में 'स्थान' शब्द का प्रयोग मिलता है। आसन का अर्थ है 'बैठना'। स्थान का अर्थ है 'गति की निवृत्ति' स्थिरता आसन का महत्वपूर्ण स्वरूप है। आसन बैठकर, खड़े होकर, लेटकर तीनों प्रकार से किये जा सकते हैं। आसन की अपेक्षा 'स्थान' शब्द अधिक उपयुक्त व व्यापक है।

आसनों का वर्णन उपनिषदों में भी मिलता है। + भगवद्गीता में आसनों के द्वारा मन स्थिर होता है, ऐसा कहा गया है। \odot आसनों का वर्णन भागवतपुराण में भी स्थान मिलता है। = पातञ्जलि ने कहा है कि अधिक समय तक सुख के साथ स्थिर होकर बैठना ही आसन है। \times हठयोग में भी आसनों का वर्णन किया गया है। \ast

हठयोग एवं अन्य योगिक ग्रन्थों में आसन के ८४ प्रकार बतलाये गये हैं लेकिन ध्यान की साधना में सहकारी कुछ ही

Δ [क] तत्त्वार्थसूत्र, टीका ६/७

[ख] ज्ञानार्णव १३/२

+ [क] तस्मा आसनमाहृत्य । (बृहदारण्यकोपनिषद् ६/२/४)

[ख] तेषां त्वया सनेऽन प्रव्वसितव्यम् । (तेत्तिरीयोपनिषद् १/११/३)

\odot स्थिरमासनमात्मनः । (भगवद्गीता ६/११; ११/४२)

= श्रीमद्भागवतपुराण २/१/१६, ३/२८/८, ४/८/४४]

\times योगदर्शन २/४६

\ast घेरण्डसंहिता २/३-६

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप (६८)

आसन हैं। जैन परम्परा में यद्यपि चित्त की स्थिरता के लिए किसी विशेष आसन का प्रयोग करना चाहिये, ऐसा कहीं कीई नियम नहीं है परन्तु जिस आसन के द्वारा मन स्थिर होता है उसी आसन का उपयोग ध्यान साधना के लिए उपयुक्त कहा गया है। × ज्ञानार्णव में ध्यान के योग्य १- पर्यंक आसन, २- अर्द्धपर्यंक आसन, ३- वज्रासन, ४- वीरासन, ५- सुखासन, ६- कमलासन, ७- कायोत्सर्ग, इन आसनों को माना है।... आचार्य हेमचन्द्र ने १- पर्यंकासन, २- वीरासन, ३- वज्रासन, ४- भद्रासन, ५- दण्डासन, ६- उत्कटिकासन, ७- गोदोहिकासन तथा ८- कायोत्सर्ग आसन का उल्लेख किया है। → परन्तु दण्डासन का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। स्थानाङ्ग, औपपातिक, बृहत्कल्प, दशाधृतस्कन्ध आदि आगमों में वीरासन, दण्डासन, आम्र-कुब्जिका तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में वज्रासन, सुखासन, पद्मासन, भद्रासन, शवासन, समपद, मकरमुख, हस्तिशुण्डि, गोनिषद्या, कुक्कुटासन आदि आसनों का वर्णन प्राप्त होता है। × इसी प्रकार उपासकाध्ययन* में वर्णित सुखासन का जो रूप है वह योगशास्त्र तथा अमितगति

× जायते येन येनेह विहितेन स्थिर मनः ।

तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यान साधनम् ॥ [योगशास्त्र ४/१३४]

— पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा ।

सुखारविन्दपूर्वं च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥ (ज्ञानार्णव, सर्ग २८, श्लोक १०)

→ पर्यंक-वीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च ।

उत्कटिका-गोदोहिका कायोत्सर्गस्तथासनम् ॥ योगशास्त्र, प्रकाश ४ श्लोक १२४-१३४

× (क) समपालियं कणिसेज्जा, गोदोहिया य उक्कुडिया ।

मगरमुह हत्थिसुं डी, गोणणिसेज्जद्धपालियंका ॥

वीरासणं च दंडा य, । [मूलाराधना ३/२२४-२२५]

[ब] बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ५६५३

निषद्या नाम उपवेशनविशेषः, ताः पञ्चविधाः, तद्यथा-सम-पादपुतागोनिषधिका हस्तिशुण्डिका पर्यङ्ककाडर्धपर्यङ्का चेति ।

* उपासकाध्ययन ३६/७३३-३७

(६६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

श्रावकाचार Δ में वर्णित पर्यकासन से मिलता-जुलता है।

१- पर्यकासन-

दोनों जंघाओं के निचले भाग पैरों के ऊपर रखने पर तथा दाहिना और बाया हाथ नाभि के पास दक्षिण-उत्तर में रखने से पर्यकासन होता है।

२- वीरासन-

बाया पैर दाहिनी जाँघ पर और दाहिना पैर बायीं जाँघ पर रखकर वीरासन होता है।☀

३- वज्रासन-

बायें पैर को दाईं जाँघ पर और दायें पैर को बाईं जाँघ पर रखकर हाथों को वज्राकार रूप में पीछे लेकर पैर के अँगूठे पकड़ना ही वज्रासन है। \times यह बद्धपद्मासन जैसी स्थिति है। कुछ आचार्यों ने इसे बेतालासन भी कहा है।

४- पद्मासन-

दायें पैर को बायीं जाँघ पर और बायें पैर को दायीं जाँघ पर भली प्रकार स्थापन करके दोनों हाथों से पैर के अँगूठों को पकड़ना ही पद्मासन है।

५- भद्रासन-

दोनों पैरों के तल भाग वृषण प्रदेश में अण्डकोषों की जगह एकत्र करके, उसके ऊपर दोनों हाथों की अँगुलियाँ एक दूसरी अँगुली में डालकर रखना भद्रासन है।+

६- दण्डासन-

भूमि पर बैठकर इस प्रकार पैर फैलाना कि अँगुलियाँ, गुल्फ और जाँघें जमीन से लगी रहें अर्थात् दण्ड की भांति पैर पसार कर

Δ अमितगतिश्रावकाचार ८/४५-४८

— हठयोगप्रदीपिका १/२१

☀ योगशास्त्र ४/१२७

+ योगशास्त्र ४/१३०

बैठना ही दण्डासन है ।

७- उत्कटिकासन-

भूमि से लगी एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं, तब उत्कटिकासन होता है ।

८- गोदोहिकासन-

गाय को दुहते समय बैठने का आसन ।☀ एड़ियों को उठाकर पंजे के बल पर बैठना अर्थात् जब एड़ियाँ जमीन से लगी हुई नहीं होती और नितम्ब एड़ियों से मिलते हैं तब गोदोहिकासन होता है ।—

९- कायोत्सर्गासन-

कायिक ममत्व का त्याग करके, दोनों भुजाओं को लटकाकर शरीर और मन से स्थिर होना, कायोत्सर्ग आसन है ।

इसी प्रकार सुखासन आदि आसनों का वर्णन भी है । सुखासन गृहस्थ तथा साधु दोनों के लिए है । बायें पैर को उसके नीचे और दायें पैर को दाईं जँघा पर रखकर बैठना ही सुखासन है ।... इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में आसनों का वर्णन भी भिन्न प्रकार से पाया गया है । पतञ्जलि ने आसनों की व्याख्या की है, किन्तु उसके प्रकारों का उल्लेख नहीं किया है । भाष्यकार व्यास ने १३ आसनों का उल्लेख किया है १- पद्मासन, २- भद्रासन, ३- वीरासन, ४- स्वस्तिकासन, ५- दण्डासन, ६- सोपाश्रयासन, ७- पर्यङ्कासन, ८- क्रौञ्चनिषूदन, ९- हस्तिनिषूदन, १०- उष्ट्रनिषूदन, ११- सम-संस्थान, १२- स्थिरमुख, १३- यथामुख ।×

कुछ आसनों के अर्थ समान हैं । पर्यङ्क, वीरासन, उत्कटिका,

☀ गोदोहनं गोदोहिका तद्वधा याडसौ गोदोहिका [स्थानाङ्ग
५/४००)

— गोदोहगा-गोदोहे आसनमिव पाष्णिद्वयमुत्क्षिप्याग्रपादाभ्यामासनम्
(मूलाराधना ३/२२४)

... यशस्तिलक ३६

× पातञ्जलयोगसूत्र २/४६ भाष्य

(१०१) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

दण्डासन आदि आसनों के अर्थ भिन्न हैं अभयदेवसूरि ने पर्यङ्क आसन का अर्थ पद्मासन किया है।* आचार्य हेमचन्द्र ने पद्मासन को पर्यङ्कासन से भिन्न माना है।△ शंकराचार्य ने घुटनों को मोड़, हाथों को फैलाकर सोना पर्यङ्कासन है ऐसा माना है।— अपराजित सूरि ने वीरासन का अर्थ दोनों जघाओं में अन्तर डालकर उन्हें फैलाकर बैठना किया है☀️. जबकि आचार्य हेमचन्द्र ने बायें पैर को दाईं जघा पर और दायें पैर को बाईं जघा पर रखकर बैठना वीरासन है ऐसा कहा है।+ उनके अनुसार इस मुद्रा को कुछ योगाचार्य पद्मासन भी मानते हैं।(१) आचार्य अमितगति का भी यह मत है।(२)

ध्यान के लिए कठोर आसन का विधान नहीं है। जिस आसन से मन स्थिर हो, वही आसन विहित है।... जिनसेन ने ध्यान की दृष्टि से शरीर की विषम स्थिति को अनुपयुक्त बतलाया है उन्होंने कहा है कि विमनस्कता की स्थिति में ध्यान नहीं हो सकता अतः ध्यान के लिए सुखासन ही इष्ट है। कायोत्सर्ग और पर्यङ्क ये दोनों आसन सुखासन है शेष सभी आसन विषम आसन हैं इन दोनों में भी मुख्यतः पर्यङ्क आसन ही सुखासन है× शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने ध्यान के लिए किसी भी आसन विशेष का वर्णन नहीं किया यह

* स्थानाङ्ग ५/४००

△ योगशास्त्र ४/१२५, १२६

— पातञ्जलयोगसूत्र २/४७ भाष्य

☀️ वीरासनं-जघे वि प्रकृष्टदेशे कृत्वासनम् । मूलाराधना ३/२२५, विजयोदया ।

+ योगशास्त्र ४/१२६

(१] पद्मासनमित्येके । (योगशास्त्र ४/१२६)

(२) ऊर्वोरुपरि निक्षेपे, पादयोर्विहिते सति ।

वीरासनं चिरं कर्तुं, शक्यं वीरैर्न कातरैः ॥ (अमितगति श्रावकाचार ८/४७)

.... ज्ञानार्णव २८/११, योगशास्त्र ४/१३४

× महापुराण २१/७०-७२

उन्होंने ध्याता की इच्छा पर ही छोड़ दिया है। ध्यान के लिए सुखासन हो इसे तो सभा विद्वानों ने एकमत से स्वीकार किया है लेकिन कठोर आसन को सभी ने नकारा है कोई भी एकमत नहीं है।

ध्यान और प्राणायाम—

प्राणायाम को पूर्वाचार्यों ने योगसाधना के लिए अति आवश्यक बतलाया है। प्राणायाम की साधना से साधक को अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक लाभ की प्राप्ति होती है, चामत्कारिक सिद्धियाँ एवं लब्धियों की प्राप्ति होती है। प्राणायाम से साधक का वचनबल मनोबल एवं कायबल बढ़ता है एवं उसकी अन्तर्दृष्टि का विकास होता है। इसके द्वारा साधक अपने मन को नियन्त्रित कर लेता है, मन का नियन्त्रण आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है। श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक गति के अभाव को ही प्राणायाम कहते हैं यह प्राणायाम पवन का साधना है। ऐतरेयोपनिषद् में प्राण एवं अपान का वर्णन मिलता है।* उपनिषदों में तो इस शब्द के विभिन्न संदर्भों पर प्रकाश डाला गया है। Δ गीता के अनुसार प्राण वायु को अपान-वायु में और अपानवायु को प्राणवायु में ले जाना और इन दोनों की गति को रोकना ही प्राणायाम है। + पतञ्जलि ने भी इन शब्दों का समर्थन किया है एवं आसन स्थिर होने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने की क्रिया को प्राणायाम कहा है।☀ इन्होंने

* ऐतरेयोपनिषद् ३

Δ (क) अमृतनादोपनिषद् ६-१४

(ख) त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् ०४-१२६

(ग) योगकुण्डल्युपनिषद् १६-३६

(घ) योगचूडामणि ६५-१२१

(ङ) योगशिखोपनिषद् ६६-१००

+ अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता

४/२६)

☀ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोगति विच्छेदः प्राणायामः । (योगदर्शन

२/४६)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (१०३)

प्राणायाम के चार प्रकार बतलाये हैं- १- बाह्यवृत्तिक, २-आभ्यन्तर वृत्तिक, ३-स्तम्भवृत्तिक, ४-बाह्यान्तर विषयाक्षेपि । =जबकि शिव संहिता में प्राणायाम के तीन प्रकार बतलाये हैं -१-पूरक, २-कुम्भक ३- रेचक ।△

बौद्ध दर्शन में प्राणायाम को आनापानस्मृति कर्मस्थान कहा गया है । आन का अर्थ है साँस लेना और अपान का अर्थ है साँस छोड़ना, इन्हें श्वास प्रश्वास भी कहा जाता है ।*

जैन परम्परा में प्राणायाम के सम्बन्ध में दो मत हैं, एक तो प्राणायाम को ध्यान की मिद्धि के लिए एवं मन को एकाग्र करने के लिए प्रशंसनीय कहते हैं, तो दूसरे इसे आवश्यक नहीं मानते हैं, उनके मतानुसार प्राणायाम से मन व्याकुल होता है और मानसिक व्याकुलता से समाधि भंग होती है और जहाँ समाधि भंग हो जाती है वहाँ ध्यान नहीं हो सकता ।× समाधि के लिए श्वास को मन्द करना जरूरी होता है जबकि मन एवं श्वास में गहरा सम्बन्ध होता है जहाँ मन है वहाँ श्वास है और जहाँ श्वास है वहीं मन है ये दोनों नीर और क्षीर का भाँति मिले हुए रहते हैं ।.... पूरक, कुम्भक एवं रेचक करने में परिश्रम करना पड़ता है जिससे मन को क्लेश की प्राप्ति होती है ।→ वायु का नाम है प्राण तथा इस प्राण को विस्तार करने को आयाम कहते हैं इस प्रकार दोनों प्रकार के श्वासों को बाहर निकालने या भीतर ले जाने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं । ये तीन प्रकार का है । यह मत आचार्य शुभचन्द्र जी

= योगदर्शन २/५०-५१

△ शिवसंहिता ३/२२-२३

* बौद्धधर्म दर्शन पृ० ८१

× महापुराण २१/६५-६६

... मनोयत्र महत्तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः ।

अतस्तुल्यक्रियावेत्तौ, संवीतौ क्षीरनीरवत् ॥ (योगशास्त्र ५/२)

→ पूरणे कुम्भने चैव रेचने च परिश्रमः ।

चित्त संक्लेश-करणान्मुक्तेः प्रत्यूह कारणम् ॥ [योगशास्त्र

c/c/v)

का है ।.... जबकि योगशास्त्र में प्राणायाम के चार प्रकार बतलाये गये हैं १- प्रत्याहार, २- शान्त, ३- उत्तर एवं ४- अधर । × पूरक में साधक वायु को अन्दर खींचता है । कुम्भक में वायु को अन्दर किसी एक स्थान पर जैसे नाभि हृदय आदि पर रोकता है और रेचक में बाहर निकाल देता है ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ध्यान की सिद्धि के लिए प्राणायाम अपेक्षित हैं इससे साधक का शरीर एवं मन शुद्ध होता है एवं उसमें अपने विचारों से दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता आती है उसके व्यक्तित्व में चुम्बकीय शक्ति का विकास होता है और तैजस शरीर का आभामण्डल शक्तिशाली बनता है, वह इतना सक्षम हो जाता है कि अपने ज्ञान नेत्र से दूसरों के सूक्ष्म शरीर को देख सकता है एवं उसके विचारों को जान सकता है, उसे भूत भविष्य की जानकारी भी रहती है । इतनी विशेषताओं के साथ-साथ जैन मतानुसार इससे मानसिक अवरोध उत्पन्न होता है इस कारण इसे विशेष महत्त्व से वर्चित रखा जाता है, यद्यपि प्राणायाम के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवेचन विश्लेषण आदि जैन योग ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं ।

ध्यान व समत्व:-

मानव के जीवन में समता और विषमता का गहरा प्रभाव पड़ता है । जब शरीर सम अवस्था में रहता है तो शरीर के प्रत्येक अंग अर्थात् सम्पूर्ण स्नायु-संस्थान ठीक से काम करते हैं और वह स्वस्थ एवं निरोग रहता है लेकिन जब शरीर विषमस्थिति में रहता है तो उसके शरीर की सारी क्रियायें अनवस्थित हो जाती हैं और वह सुस्त, रोगी और लाचार हो जाता है । इसलिए शरीर को हमेशा सम स्थिति में रखना चाहिए क्योंकि मन पर समता का बहुत गहरा असर पड़ता है और मन का असर चेतना पर पड़ता है ।

.... त्रिधा लक्षणभेदेन सस्मृतः पूर्वसूरभिः ।

पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ (ज्ञानार्णव २६/३)

× प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तराश्चाधरस्तथा ।

एभिर्भेदश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परैः ॥ (योगशास्त्र ५/५)

जन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन [१०५]

और मन का असर चेतना पर पड़ता है । जब मन अव्यवस्थित हो जाता है तो चेतना में भी अस्थिरता आ जाती है जिससे मानसिक विसमता हो जाती है लाभ-हानि, सुख-दुख आदि स्थितियों से मन जितना विषम होता उतनी ही अस्थिरता आती है । अगर स्थितियों से कोई लगाव नहीं होता वह स्थिति सम कहलाती है । उस स्थिति में चेतना स्वयं स्थिर हो जाती है, यही अवस्था ध्यान कहलाती है । आचार्य शुभचन्द्र ने भी समभाव को ध्यान माना है । + जब तक समता की स्थिति नहीं होती तब तक वह ध्यान नहीं होता है, आचार्य हेमचन्द्र ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति समता की साधना किए बिना ध्यान करता है, वह कोरी विडम्बना करता है ।☀ अर्थात् समता की साधना किए बिना ध्यान असम्भव है । अतः हम देखते हैं कि ध्यान और समत्व मिले हुए हैं ।

ध्यान सिद्धि के हेतु-

ध्यान की सिद्धि के लिए चार बातें जरूरी बताई गयी हैं -१- सद्गुरु का उपदेश, २--श्रद्धा, ३-- निरन्तर अभ्यास एवं ४--स्थिर मन ।
— सद्गुरु वही होता है जो ध्यान के विषय का पूर्ण रूप से यथार्थ ज्ञाता हो चाहे वह ज्ञान प्रत्यक्ष हो या परोक्ष रूप से हो, या जिसने गहन अभ्यास के द्वारा उस सम्बन्धित विषय में सिद्धि की प्राप्ति कर ली हो । बृहद्द्रव्यसंग्रह की संस्कृत टीका में वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रन्थता अर्थात् असंगता, समचित्तता परीषह जय ये पाँच प्रकार के ध्यान की सिद्धि के हेतु कहे हैं Δ पतञ्जलि ने अभ्यास की दृढ़ता

+ ज्ञानार्णव २७/४

× समत्वम बलम्ब्रया थ ध्यानं यागी समाश्रयेत् ।

☀ बिनसमत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते ॥ (योगशास्त्र ४/११२)

— ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।

गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाऽभ्यासः स्थिरं मनः ॥ (तत्त्वानुशासन २१८)

Δ वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थं समचित्तता ।

परीषह-जयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः ॥ (बृहद्द्रव्यसंग्रह, संस्कृत टीका पृ० २०१)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप (१०६)

के तीन हेतु बताये हैं १- दीर्घकाल, २- निरन्तर और ३- सत्कार ।...

सोमदेव सूरि ने वैराग्य, ज्ञान सम्पदा, असंगता, चित्त की स्थिरता, भूख प्यास आदि की उर्मियों को सहना-ये पाँच ध्यान की सिद्धि के हेतु बतलाये हैं । × इसके सम्बन्ध में एक मत नहीं मिलता है ।

सम्यग्दर्शन—

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रय की शुद्धि किये बिना ध्यान होना असाध्य है ।

‘दर्शन’ शब्द जैनागमों में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । इसका एक अर्थ है ‘देखना’ अर्थात् अनाकार ज्ञान* और दूसरा अर्थ ‘श्रद्धा’ के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है । Δ सही दर्शन सही ज्ञान तक और सही ज्ञान सही आचरण तक ले जाता है । सम्यग्दर्शन ही धार्मिक क्षेत्र से अपेक्षित है । आप्तवचनों तथा तत्वों पर श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है ।— आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है कि ‘जो जीव पदार्थों का श्रद्धान करता है वही नियम से सम्यग्दर्शन है । जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष के प्रति विश्वास ही सम्यक्त्व है । +

... पातञ्जल योगसूत्र १/१४

× वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसंगः स्थिरचित्तता ।

उर्मि-स्मय सहृद्वं च पंच योगस्य हेतवः ॥ [यशस्तिलक ८/४०]

* साकारं ज्ञानं अनाकारं दर्शनं । [तत्त्वार्थराजवातिक पृ० ८६]

Δ (क) उत्तराध्ययन सूत्र २८/१५

[ख] स्थानाङ्ग वृत्ति (अभय देव सूरि) स्थान १

(ग) तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् (तत्त्वार्थ सूत्र १/२)

(घ) नियमसार-तात्पर्यवृत्ति ३

— समयसार १४

☉ यज्जीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम् ।

निसर्गेणाधिगत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते ॥ (ज्ञानार्णव ६/६)

+ तत्त्वार्थसूत्र १/४,

(ख) रुचिजिनोक्तत्वेषु, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते (योगशास्त्र १/१७)

(१०७) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण→

१- शमः—

क्रोध, मान, माया और लोभरूपी कषायों का शमन अर्थात् उनको उदित होने पर शान्त करना। इसका नाम प्रशम भी है।

२- संवेग—

मोक्ष की अभिलाषा करना।

३- निर्वेद—

सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति।

४- अनुकम्पा—

निःस्वार्थ भाव से दुखी जीवों के दुखों को दूर करने की इच्छा करना।

५- आस्तिक्य—

सर्वज्ञ कथित तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा रखते हुए उस पर शंका का भाव न लाकर विश्वास करना। इन पाँच लक्षणों से सम्यक्त्व की पहचान होती है।

सम्यक्त्व के पचचीस दोष—

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए एवं उसकी शुद्धता के लिए पचचीस दोषों को त्यागना अति आवश्यक है, क्योंकि उनको त्यागे बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है। + वे दोष-तीन मूढताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका आदि के रूप में कहे गये हैं।☀

→ वही २/१५

+ ज्ञानार्णव ६/८

☀ (क) मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षड्-१

अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पचविंशति ॥ (उपासकाध्ययन २१/२४१)

(ख) मूलाचार प्रदीप ५/६६-६७

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप (१०८)

तीन मूढतायें— १- देवमूढता, २- गुरुमूढता, ३- लोक मूढता ।

आठ मद— १- जाति मद, २- कुल मद, ३- बलमद, ४- लाभमद,
५- ज्ञान मद, ६- तपभद, रूपमद, ऐश्वर्य मद ।

छह अनायतन— १- मिथ्यादर्शन, २- मिथ्याज्ञान, ३- मिथ्याचारित्र,
४- मिथ्यादृष्टि, ५- मिथ्याज्ञानी, ६- मिथ्याचारित्री ।—

आठ शंकायें— १- शंका, २- कांक्षा, ३- त्रिचिकित्सा, ४- अन्यदृष्टि
प्रशंसा, ५- निन्दा, ६- अस्थिरीकरण, ७- अवात्सल्य,
८- अप्रभावना ।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार—

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार इस प्रकार से हैं १- शंका, २- कांक्षा, ३- त्रिचिकित्सा, ४- मिथ्यात्वियों को प्रशंसा, ५- मिथ्या-दृष्टियों का संस्तव ।...

सम्यग्ज्ञान—

सम्यग्दर्शन के लिए जिन तत्वों पर श्रद्धा अर्थात् विश्वास करना अपेक्षित है उनको विधिवत् अर्थात् सही रूप में जानना ही सम्यग्ज्ञान है । × अर्थात् अनेक धर्मयुक्त 'स्व' तथा 'पर' पदार्थों को जानना ही सम्यग्ज्ञान है । * अपने स्वरूप को जानना ही सम्यग्ज्ञान है । सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान का होना असम्भव है । Δ सम्यग्ज्ञान के तीन दोष हैं १- संशय, २- विपर्यय, ३- अनध्यवसाय । इन तीनों

— मूलाचार प्रदीप ५/८५

— योगशास्त्र २/१७

× नाणेण जाणइ भावे । (उत्तराध्ययन सूत्र २८/३५)

* स्वापूर्वायं व्यवसायात् भक्तं ज्ञानं प्रमाणम् । (प्रमेयरत्नमाला १)

Δ सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः ।

ज्ञानाराधनमिष्टं, सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।

दीपप्रकाशयोरिव, सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥ (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

३३, ३४)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (१०६)

दोषों को दूर करके आत्मस्वरूप को जानना चाहिये।— आत्मस्वरूप को जानना ही निश्चय दृष्टि से सम्यग्ज्ञान है।☀ इसके पाँच भेद बतलायें गये हैं।+ १- मतिज्ञान, २- श्रुत ज्ञान, ३- अवधिज्ञान, ४- मनः पर्यय ज्ञान,

सश्यक्चारित्र—

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि और सम्यग्ज्ञान की आराधना के बाद साधक का चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है। इसका कारण यह है कि दृष्टि शुद्ध और यथार्थ ग्राहिणी हो जाती है। साधक जितनी भी योग क्रियाएँ करता है, वे सब सम्यक्चारित्र बन जाती है। ज्ञान को आचरण में लाना, यही चारित्र धर्म हैं तथा इसी का दूसरा नाम सम्यक्चारित्र हैं। अज्ञानपूर्वक चारित्र का ग्रहण सम्यक् कहा गया है।× श्रमण और श्रावक की अपेक्षा से सम्यक्चारित्र के दो भेद किये गये हैं☀ १- सकल चारित्र, २- विकलचारित्र। आगमों में इनके दो भेद

— तातै जिनवरकथित तत्त्व अभ्यास करीजे।

संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे ॥ (छहढाला ४/६)

☀ आप रूप को जानपनों सो सम्यग्ज्ञान कला है। (छहढाला ३/२

+ (क) मति श्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानम्। (तत्त्वार्थ सूत्र १/६]

(ख) मति श्रुतावधिज्ञानं मनः पर्यय केवलम्।

तदित्थं सान्त्वयैभेदैः पञ्चवेति प्रकल्पितम् ॥ (ज्ञानार्णव ७/३)

→ प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग।

(समीचीन धर्मशास्त्र २; ४३-४६)

× नहि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।

ज्ञानान्तरमुक्तं, चारित्राराधनं तस्मात् ॥ (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ३८]

☀ सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंग विरतानाम्।

अनगाराणां, विकलं सागाराणां संसंगानाम् ॥ [समीचीन -धर्म शास्त्र ३/४/५०)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप (११०)

निम्न प्रकार से किये गये हैं १- अणगार धर्म, २- आगार धर्म । —
 चारित्रके पाँच भेदों का भी वर्णन प्राप्त होता है । △ १- सामायिक
 चारित्र, २- छेदोपस्थापना चारित्र, ३- परिहार विशुद्धि चारित्र, ४-
 सूक्ष्मासम्पराय चारित्र, ५- यथाख्यातचारित्र । इसके चार लक्षणों का
 भी वर्णन है * १- अपुनबन्धक, २- सम्यग्दृष्टि, ३- देशविरति, ४-
 सर्वविरति ।

-: ० :-



— चरित्तधम्मं दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-अणगार चरित्त धम्मं, अगार
 चरित्त धम्मं चेव । (स्थानाङ्ग, स्थान २]

△ (क) सामायिकछेदोपस्थापना परिहार विशुद्धि सूक्ष्मसम्पराय
 यथाख्यातमिति चारित्रम् । तत्वार्थ सूत्र ६/१८)

(ख) सामाड्यत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे वीयं ।

परिहार विसुद्धीयं, सुहुम तह संपसायं च ॥

अकसायं अहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्म वा ।

एसं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ॥ (उत्तराध्ययन

२८/३२-३३)

* योगशतक १३-१६

चतुर्थ परिच्छेद

ध्यान के भेद-द्विविध एवं चतुर्विध वर्गीकरण

जैन आगमों तथा अन्य ग्रन्थों में ध्यान के चार प्रकारों का वर्णन मिलता है। + आर्त्त, रौद्र, धर्म्य एवं शुक्ल। इनमें प्रथम के दो आर्त्त एवं रौद्र अप्रशस्त और अन्तिम दो प्रशस्त कहे गये हैं। ☸ अप्रशस्त होने के कारण शुरू के दो ध्यान संसार के कारण है और कर्म बन्ध के हेतु हैं, और अन्तिम दो प्रशस्त होने के कारण संसार से मुक्ति के कारण एवं कर्मों का क्षय करके मुक्ति के हेतु माने गये हैं। =

षट्खण्डागम की आचार्य वीरसेन के द्वारा विरचित धवला-टीका में एक विशेषता देखी जाती है कि वहाँ ध्यान के केवल धर्म और शुक्ल इन दो भेदों का वर्णन किया है लेकिन आर्त्त और रौद्र इन दो भेदों का वहाँ वर्णन नहीं दिखाई पड़ता

+ भगवता सूत्र २५/७, स्थानाङ्ग ४/२४७, समवायांग ४, औपगतिक सूत्र, तपोऽधिकार सूत्र ३०, आवश्यक निर्गुक्ति १४५८, दशवैकालिक, अध्ययन १ अट्ट रुद्दं धम्मं सुक्कं ज्ञाणां तत्थ अंताइं ।

निव्वाण साहणाइं भवकारणमट्ट-रुद्दाइं ॥ (ध्यान शतक, ५)

आर्त्तं रौद्रं धर्म्यं शुक्लानि ॥ (तत्त्वार्थ सूत्र ६/२८) मूलाचार ५/१६७ तत्वानुशासन ३४

☸ स्यातां तत्रार्त्तं रौद्रं द्वे दुर्ध्यानिऽत्यन्तदुःखदे ।

धर्मं शुक्ले ततोऽन्ये द्वे कर्मनिर्मूलनक्षमे ॥ (ज्ञानार्णव २५/२१)

= आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानिं वर्जनीयमिदं सदा ।

धर्मं शुक्लं च सदुध्यानमुपादेयं म्रुमुक्षुभिः ॥ (तत्वानुशासन ३४)

है, Δ ऐसा हो सकता है कि वहाँ तप का प्रकरण होने के कारण इन दो अप्रशस्त अर्थात् दुर्ध्यानों का वर्णन नहीं किया गया होगा किन्तु तप का प्रकरण होने पर भी कई ग्रन्थों में आर्त्त, रौद्र, धर्म एवं शुक्ल इन चारों प्रकारों का वर्णन प्राप्त होता है ।.... आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने योगशास्त्र में धर्म्य एवं शुक्ल इन दो भेदों को ही निर्दिष्ट किया है । \times

इधर कुछ अर्वाचीन ध्यान साहित्य में ध्यान के इन चार भेदों के अतिरिक्त पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये अन्य चार भेद भी उपलब्ध होते हैं किन्तु इनका स्रोत कहाँ है और ये किस प्रकार से विकसित हुए यह पता नहीं लेकिन इनका वर्णन या निर्देश मूलाचार, भगवती आराधना, ध्यान शतक, स्थानाङ्ग, समवायांग और आदि पुराण आदि ग्रन्थों में कहीं नहीं हैं । परन्तु आचार्य देवसेन द्वारा विरचित भावसंग्रह एवं योगीन्दु के योगसार में इन नामों का उल्लेख प्राप्त होता है । \ast

आचार्य अमितगति ने भी ध्यान के आर्त्त आदि चार प्रकारों का वर्णन किया है । Δ नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ने ध्यान के आर्त्त आदि किसी भी भेद का वर्णन न करके वहाँ परमेष्ठिवाचक अनेक पदों का जो वर्णन किया है उससे पदस्थ, पण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का संकेत मिलता है । = ज्ञानार्णव के अनुसार भी ध्यान के दो भेद

Δ ज्ञाणं दुविहं-धम्म ज्ञाणं सुक्कज्झाणमिदि ।

(धवला पूस्तक १३, पृ० ७०)

.... (क) मूलाचार ५/१६७ (ख) औपपातिक सूत्र २०

(ग) तत्वार्थ सूत्र ६/२८

\times योगशास्त्र ४/११५

\ast (क) भावसंग्रह-पिण्डस्थ ६१६/२२, पदस्थ ६२६/२७, रूपस्थ ६२३/२५, रूपातीत ६२८/३०

(ख) योगसार, माथा ६८

Δ भावकाचार १५-२३

= बृहद् द्रव्यसंग्रह (मूल) ४६-५४

(११३) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

को मिलते हैं १- प्रशस्त, २- अप्रशस्त ।☀ यहाँ चारों भेदों का भी समर्थन किया गया है । श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी ध्यान के चार प्रकारों का वर्णन किया है लेकिन उन्होंने अन्त के दो ध्यानों को तप का अङ्ग माना है ।+ इष्टोपदेश में भी ध्यान के चार प्रकारों का उल्लेख करते हुए पूज्यपादाचार्य ने शुरु के दो ध्यानों का परित्याग एवं अन्त के दो ध्यानों की उपासना करने के लिए कहा है... । स्वामि कार्तिकेय ने भी चारों प्रकारों का वर्णन, किया है ।× इन सबके अतिरिक्त ध्यान के चौबीस भेदों का भी उल्लेख मिलता है,☀ जिनमें बारह ध्यान क्रमशः ध्यान, शून्य, कला, ज्योति, बिन्दु, नाद, तारा, लय, मात्रा, पद और सिद्धि हैं, तथा इन ध्यानों के साथ 'परम' पद लगाने से ध्यान के अन्य भेद बनते हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर पता चलता है कि ध्यान के चार भेद ही सर्व सम्मति से अभीष्ट हैं ।

आर्त्तध्यान-

आर्त्तध्यान शब्द का अर्थ-

चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्त्तध्यान कहा गया है । 'ऋते भवम् आर्त्तम्' इस निरुक्ति के अनुसार दुःख

☀ आर्त्तरोद्र विकल्पेन दुर्घ्यानं देहिनां द्विधा ।

द्विधा प्रशस्तमत्युक्तं धर्मं शुक्लविकल्पतः ॥ (ज्ञानार्णव २५/२०)

+ आर्त्तरोद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।

ध्यानमुक्तं परं तत्र तपोऽङ्गमुभयं भवेत् ॥ (तत्त्वार्थसार ३५/६)

... तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिक फलार्थिनां ।

तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥ (इष्टोपदेश २०)

× असुहं अट्ट रउद्दं, धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि ।

अट्ट तिञ्चक्रषायं, तिञ्चतमकसायदो रुद्दं । (श्रीकार्तिकेयानुप्रोक्षा ४६६)

☀ सुन्न-कुल-जोइ-बिन्दु-नादो-तारो-लओ-लवो मत्ता ।

पय-सिद्धि परमजुया ज्ञाणाई हुंति चउबीसं ॥

(नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत) पृ० २२५)

में होने वाली संकिलष्ट परिणति का नाम आर्त्तं ध्यान है ।△ दुःख के निमित्त से या दुःख में होने वाली दशा या परिणति को आर्त्तं ध्यान कहा गया है ।= इसी प्रकार राग भाव से जो उन्मत्तता होती है +, वह केवल अज्ञान के कारण ही होती हैं जिसके फलस्वरूप जोव उस अवाञ्छनीय वस्तु के प्राप्ति-अप्राप्ति के प्रति होता है हैं वही आर्त्तं ध्यान है ।☀ आर्त्तं ध्यान सामान्यतः तो दुःख क्लेशरूप परिणाम है ।=

आर्त्तध्यान के भेद-

आर्त्तध्यान के चार प्रकार है △ १- इष्टवियोग आर्त्तं ध्यान, २- अनिष्टसंयोग आर्त्तध्यान, ३- प्रतिकूल वेदना आर्त्तध्यान, ४- निदान आर्त्तध्यान । तत्त्वाधिसूत्र में भी आर्त्तध्यान के चार प्रकार बतलाये हैं ।☀ अमृत चन्द्र सूरि ने भी चार प्रकारों को माना

△ ऋते भवमथार्त्तं स्यादसद्वयानं शरीरिणाम् ।

दिग्मोहोन्मततातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥

(ज्ञानार्णव २५/२३)

= अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओग सतिसमण्णागतौ यावि भवति । (स्थानाङ्ग ४-२४७)

+ समवायांग ४

☀ दशवैकालिक अध्ययन, १

= कार्तिकेयानुष्नेक्षा ४७१

△ (क) औपपातिक सूत्र, तपोऽधिकार, सूत्र ३०

[ख] स्थानाङ्ग, स्थान ४

[ग] भगवती २५/७

[घ] ज्ञानार्णव २५/२४

[ङ] आवश्यक अध्ययन ४

(अ) इष्टवियोगानिष्टसंयोगव्याधिप्रतिकार भोगनिदानेषु वाञ्छारूपं चतुर्विध आर्त्तध्यानम् । (द्रव्यसंग्रह टीका ४८/२०१)

[आ] भगवती आराधना, विजयोदया टी०, १६६७

☀ तत्त्वार्थ सूत्र ६/३०

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (११५)

हैं । × अन्य ध्यान से सम्बन्धित ग्रन्थों में भी आर्तं ध्यान चार भेदों वाला माना गया है ।....

१- इष्ट वियोग आर्तध्यान—

घा, ऐश्वर्य, स्त्री-पुरुष, कुटुम्ब, मित्र आदि सांसारिक काम भोगों के पदार्थों से विमुक्त होने पर हाय तौबा करते हुए उनके प्रति गमगीन बने रहना यही आर्तं ध्यान का प्रथम भेद इष्ट वियोग आर्तध्यान कहलाता है । → अर्थात् अपनी प्यारी वस्तु के नष्ट होने पर उसकी फिर से प्राप्ति के लिए जो दुःख होता है वह इष्ट वियोग आर्तध्यान कहलाता है । ×

२- अनिष्ट संयोग आर्तध्यान—

अनिष्ट ओर अप्रिय वस्तुओं के संयोग होने पर जो संक्लेश होता है वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है अर्थात् यह मेरा शत्रु है मुझे कोई हानि न पहुँचा दे इससे कैसे छूटकारा मिले इस सम्बन्ध में सोचते हुए जो दुःख या क्लेश जीव को उत्पन्न होता है, या अग्नि, सर्प, सिंह, जल आदि के निमित्त जो क्लेश होता है वही दूसरा आर्त ध्यान अर्थात् अनिष्ट संयोग आर्तध्यान कहलाता

× प्रिय भ्रंशेऽप्रिय प्राप्ती निदाने वेदनोदये ।

आर्तं कषाय संयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥ (तत्त्वार्थसार ३६)

.... [क] विप्रयोगे मनोज्ञस्य संप्रयोगाय संततम् ।

संयोगे चामनोज्ञस्य तद्वियोगाय या स्मृतिः ॥ (ध्यान-
स्तव ६)

[ख] मूलाचार प्रदीप २००३-२००५

(ग) ध्यान शतक ६

→ विपरीतं मनोज्ञस्य । (तत्त्वार्थ सूत्र ६/३१)

× (क) मनोज्ञवस्तुविध्वंसे मनस्तत्संगमार्थिभिः ।

क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयात्तस्य लक्षणम् ॥ (ज्ञानार्णव
२५/३१)

[ख] सर्वार्थसिद्धि ६/३१/४४७/१

[ग] चारित्रसार १६६/१

है।* दुखों के कारण उत्पन्न होने पर उसके समाप्त करने की इच्छा का बार-बार संकल्प या चिन्तन करना भी दूसरा आर्त ध्यान कहलाता है।—

३- प्रतिकूल वेदना या रोगार्त ध्यान—

शारीरिक एवं मानसिक आधि-व्याधियों के उत्पन्न होने पर जीव उनसे मुक्त होने के लिए रात-दिन चिन्ता करता रहता है + अर्थात् शूल सिरदर्द आदि रोगों से उत्पन्न वेदना के प्रति चिन्तन करना ही रोग सम्बन्धी आर्तध्यान है* और साथ ही भविष्य के विषय में चिन्तन करना कि यह रोग या क्लेश स्वप्न में भी कभी न हो ऐसा सोचकर दुखी रहना ही तीसरा आर्त ध्यान कहलाता है।— यह ध्यान दुःखों का आकर और भविष्य के लिए पाप बन्ध का कारण है।*

* (क) ज्ञानार्णव २५/२५ (ख) तत्त्वार्थ सूत्र ६/३०

(ग) तत्त्वार्थ वृत्ति ८६ अनिष्ट संयोगाद्वा समुज्जातमास्तध्यानम् ।

(घ) अमनोज्ञमप्रियं विषकष्टकशत्रु शस्त्रादि, तद्वाधाकारणत्वाद् 'अमनोज्ञम्' इत्युच्यते । [सवार्थसिद्धि ६/३०/६]

△ एकदुःखसाधन सद्भावे तस्य विनाशकाङ्क्षात्पन्नविनाश संकल्पा-
ध्यवसानं द्वितीयात् ।

(चारित्रसार १६८/५)

+ [क] ज्ञानार्णव २५/३२

(ख) वेदनायाश्च । (तत्त्वार्थ सूत्र ६/३२)

* तहसूलसीसरोगाद् वेयणाणं विजोगपणिहाणं ।

तदसंपओर्गचिता तप्पडियाराउल्ल मणस्स ॥

(ध्यान शतक ७)

— स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वत्नेऽपि संभवः ।

ममेति या नृणां चिंता स्यादात्तं तत्तृतीयकम् ॥

(ज्ञानार्णव २५/३३)

* निसर्गं जनितं निद्यं पूर्वसंस्कारयोगतः ।

विश्वदुःखाकरीभूत कृत्स्नपापनिबन्धनम् ॥

(मूलाचार प्रदीप, षष्ठ अधिकार, २०२०)

४- निदान आर्त ध्यान-

जो काम भोग इस जीवन में न मिले हों उन्हें अगले जन्म में प्राप्त करने की तीव्र इच्छा या अभिलाषा रखना या शत्रु से अगले जन्म में बदला लेने की लालसा रखना ही चौथा अर्थात् निदान आर्तध्यान होता है।.... अर्थात् आगामी विषय की प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता करना ही निदान आर्त ध्यान कहलाता है। X

संसार के अधिकतर प्राणियों को आर्तध्यान ही होता है ये जीव आर्त ध्यान में ही निमग्न रहते हैं। किसी को इष्ट का वियोग होने के कारण दुःख है तो किसी को अनिष्ट के सम्बन्ध में कि कहीं हमारा किसी विषय में अनिष्ट से संयोग न हो जाये इसकी पीडा है, तो कहीं रोग की चिन्ता है, तो किन्हीं लोगों को काम भोगों की तीव्र लालसा ने विकल कर रखा है। ये सभी प्रकार आर्तध्यान संसार के कर्म बन्धन हैं ये अशुभ ध्यान हैं और सदा अच्छे पुण्यों आदि का नाश करके जीव को सांसारिक विषय भोगों की ओर उन्मुक्त करते हैं। जिससे उसका मोक्ष मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए ये आर्त ध्यान सर्वदा ज्याज्य हैं।

.... (क) इष्ट भोगादिसिद्धयर्थं रिपुघातार्थमेव वा ।

यन्निदानं मनुष्याणां स्यादास्तं तत्तुरीयकं (ज्ञानार्णव २५/२६)

(ख) गृहस्थस्य निदानेन विना साधोस्त्रय इवचित् । (ध्यान स्तव १०)

[ग] देविदं-चक्रकवटित्तगाइं गुण-रिद्धिपत्थणमईयं ।

अहमं नियाणचित्तणमण्णाणुगयमच्चंतं ॥ (ध्यान, शतक ६)

X (क) निदानं च । (तत्त्वार्थ सूत्र ६/३३)

(ख) द्वितीयं वल्लभघनादि विषयम्, चतुर्थं तत्संपाद्यशब्दादि भोग विषय मिति भेदोऽनयोर्भाविनीयः । शास्त्रान्तरे तु द्वितीय-

चतुर्थयोरेकत्वेन तृतीयत्वम्, चतुर्थं तु तत्र निदानमुक्तम् ।

(स्थानाङ्ग टीका, २४७, पृ० १८६]

चलाक समझकर यह छुपाये कि उसे आर्त्त ध्यान नहीं होता किन्तु उसके दिल में स्थित आर्त्त ध्यान नहीं होता, किन्तु उसके दिल में स्थित आर्त्त ध्यान का पता उसके बाह्य चिह्नों से हो जाता है, जैसे आर्त्त ध्यान से पीड़ित व्यक्ति सबसे पहले तो शंकालु होता है फिर उसको शोक व भय से प्रमाद तक होने लगता है, उसका चित्त एक जगह नहीं ठहरता। वह विषयी हींकर हर वक्त सोने लगता है, उसका शरीर धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगता है।... वह जीव निरन्तर आक्रन्द, शोक, क्रोध आदि क्रियायें करता है। जो इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग तथा वेदना के कारण होते हैं। वह जोर-जोर से चिल्लाकर छाती पीट-पीट कर रोता है, आँसू बहाता है, बाल नोचता है एवं वाणी से दिल का गुस्सा उतारता है।× वह परिग्रह में अत्यन्त आसक्त होकर एव लोभी होकर, शोक करता हुआ अपनी जीविका चलाता है।* उसका शरीर क्षीण पड़ जाता है व मूर्च्छा आती है, शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार से इन अनेक बाह्य लक्षणों से आर्त्त ध्यान का पता चल जाता है।△ जिसे केवल अपनी ही आत्मा जान सके वह आध्यात्मिक आर्त्त ध्यान कहलाता है और जिसे अन्य लोग अनुमान कर सके बाह्य आर्त्त कहलाता

... ज्ञानार्णव २५/४३

× तस्सऽवकंदण-सोयण-परिदेवण-ताडणाइं लिगाइं ।
इट्ठा ऽणिट्ठविओगाऽविओग-वियणानिमित्ताइं ।

(ध्यानशतक १५-१७)

* मूर्च्छा कौशोल्यकेनाश्वकौसीद्यान्यति ग्धनुता ।
भयोद्वेगानुशोकाच्च लिङ्गान्यार्त्तं स्मृतानि वै ॥
बाह्यं च लिङ्गमात्तंस्य गात्रग्लानिर्विवर्णता ।
हस्तान्यत्कपोलत्वं साश्रुतान्यच्च तादृशम् ॥

(महापुराण २१/४०-४१]

△ (क) चारित्रसार १६७/४

(ख) अट्टस्स णं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पं (पणत्ता) तं (तं जहा] कंदणता सोचणता तिप्पणता परिदेवणता । (स्थानाङ्ग टी. पृ० १६)

(१२०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

है । +

आर्त्त ध्यान और गुण स्थान एवं भ्वामी—

आर्त्त ध्यान चारों भेदों सहित छठे गुणस्थान तक ही रहता है । ❀ आचार्य पूज्यपाद ने भी सर्वार्थसिद्धि टीका में कहा है कि आव-
रती-असंयत-सम्यग्दृष्टि तक-और देशविरतों के ही आर्त्त ध्यान
होता है, क्योंकि वे सब असंयमी होते हैं ।—

हरिवंश पुराण में छह गुण स्थानों तक छह भूमि वाला आर्त्त
ध्यान माना गया है । △ ज्ञानार्णव में भी छह गुण स्थान तक ही आर्त्त
ध्यान माना है लेकिन संयतासंयतनामा पाँचवें गुणस्थान तक तो
चार भेद सहित रहता है किन्तु छठे गुण स्थान में निदान रहित तीन
प्रकार का ही रहता है । ❀

तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि निदान को छोड़कर शेष
तीन ध्यान प्रमाद के उदय की तीव्रता से प्रमत्तसंयतों के कभी-कभी
होते हैं, निदान प्रमत्त संयतो के नहीं होता है । × मूलाचार, स्थानाङ्ग
सभवायांग और औपपातिक सूत्र में से किसी में भी ध्यान के स्वामियों
का उल्लेख नहीं किया गया है । ध्यान शतक में भी अविरत-मिथ्या-
दृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरतों के ही आर्त्त ध्यान होता है

+ स्वसंवेद्याध्यात्मिकार्त्तध्यान । (चारित्रसार १६७/५)

❀ (क) तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम् । [तत्त्वार्थ सूत्र ६/३४]

[ख] महापुराण २१/१७

— तत्राविरत-देशविरतानां चतुर्विधमार्त्तं भवति, असंयमपरिणामो-
पेतत्वात् प्रमत्तसंयतानां तु निदानं वज्र्यमन्यदात्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्
कदाचित् स्यात् । (सर्वार्थसिद्धि ६/३४)

△ अधिष्ठानं प्रमादोऽस्य तिर्यग्गतिफलस्य हि ।

परोक्ष मिश्रको भावः षड्गुणस्थान भूमिकम् ॥ (हरिवंश पुराण
५६/१८)

❀ ज्ञानार्णव २५/३८-३९

× कदाचित् प्राच्यमातं ध्यानत्रयं प्रमात्तानाम् । निदानं वज्रयित्वा
अन्यदात्तं त्रयं प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित् प्रमत्तसंयतानां भवति ।
[तत्त्वार्थ वार्तिक ३/४१/१]

ऐसा कहा गया है और मुनिजनों के लिए यह सर्वथा त्याज्य है ।....
आर्त्त ध्यान और लेश्या—

आर्त्त ध्यान अशुभ और अप्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत आता है इसलिए यह अशुभ होने के कारण अशुभ लेश्या वाला ही होता है । इसके कृष्ण, कापोत और नील ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं जो पाप रूप अग्नि में ईंधन के समान होती हैं । × जीव के कर्मों से उदित हुई ये तीनों लेश्यायें अत्यधिक संक्लिष्ट नहीं होतीं । जितनी वे रौद्र ध्यान में अपने अत्यधिक रूप में रहती है, उतनी वे आर्त्त ध्यान में प्रभावशाली नहीं होकर हीन रूप से विद्यमान रहती है हैं । * इन्हीं अशुभ लेश्याओं पर आश्रित होकर अशुभ आर्त्त ध्यान उत्पन्न होता है । Δ

आर्त्त ध्यान का फल—

संसार कर्म बन्धन के कारण खड़ा होता है । आर्त्त ध्यान से कर्मों का क्षय नहीं होता अपितु कर्मों का बन्धन बढ़ता है और कर्मों का बन्धन बढ़ने से संसार की वृद्धि होती है, वह माया मोह के चक्कर में पड़ जाता है एवं जन्म-मरण के भव सागर में चक्कर लगाता है ये सब ही आर्त्त ध्यान के फलस्वरूप होता है और यही आर्त्त ध्यान का सामान्य रूप से फल है लेकिन इस फल के अलावा आर्त्त ध्यान का एक विशेष फल तिर्यग्गति है । + तिर्यग्गति अनन्त दुखों से व्याप्त

.... तदविरय-देसविरया-पमायपरसजयासणुगं ज्ञाण ।

सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं ॥ (ध्यान शतक १८)

× कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेनजु प्रविम्भते ।

इदं दुरितदावाचिः प्रसूतेरिन्धनोपमं ॥ (ज्ञानाणं व २५/४०)

* कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइसकिलिट्ठाओ ।

अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ [ध्यान शतक १४)

Δ (क) अप्रशस्ततमं लेश्या त्रयमाश्रित्य जृम्भितम् ।

अन्तमुहूतं कालं तद् अप्रशस्तावलम्बनम् ॥ (महापुराण २१/३८

(ख) चारित्रसार १६६/३

+ एयं चउव्विहं राग-दोस-मोहं कियस्स जीवस्स ।

अट्टज्झाणं संसार वड्ढणं तिरियगइमूलं ॥ (ध्यान शतक १०)

(१२२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

होती है, यह भाव क्षयोपशमिक है इसका काल अन्तमूर्हत है ।☀
यह आर्त्त ध्यान एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय
तिर्यग्गति के योग्य कर्म बंध करवाता है । आर्त्त ध्यान अत्यन्त अशुभ,
दुखों से व्याप्त एवं समस्त क्लेशों से भरा हुआ होने के कारण संसार
के बन्धन का हेतु माना गया है ।—

—: ० :-



☀ अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतेः फलम् ।

क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तमुर्हत्कः ॥ (ज्ञानार्णव २५/४२)

— (क) सर्वार्थसिद्धि ६/२६

(ख) तिर्यग्भवगमनपर्यवसानम् । (राजवार्तिक ६/३३/१/६२६

(ग) हरिवंशपुराण ५६/१८

(घ) चारित्रसार १६६/४

[ङ] विश्वसंक्लेशसंपूर्ण तिर्यग्गतिकरं फलम् ।

मिथ्यादृशामति क्लेशात्सदृष्टीनां च तद्व्ययात् ॥ [मूलाचार्य
प्रदीप ६/२०१६)

पंचम परिच्छेद

रौद्र ध्यान

रौद्र ध्यान का लक्षण—

‘प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः, तत्र भवं रौद्रम्’ अर्थात् क्रूर, कठोर एवं हिंसक व्यक्ति को रुद्र कहा जाता है और उस प्राणी अर्थात् उस रुद्र प्राणी के द्वारा जो कार्य किया जाता है उसके भाव को रौद्र कहते हैं ।... इन अतिशय क्रूर भावनाओं तथा प्रवृत्तियों से संश्लिष्ट ध्यान रौद्र ध्यान है । × जो पुरुष प्राणियों को मलाता है, वह रुद्र व क्रूर कहलाता है और उस पुरुष के द्वारा जो ध्यान किया जाता है वह रौद्र ध्यान कहलाता है । * यह ध्यान भी अशुभ अथवा अप्रशस्त ध्यान है । इसमें जीव स्वभाववश सभी प्रकार के पापों को करने में लगा रहता है व हिंसा आदि पाप कार्य करके गर्वपूर्वक डींगे

... रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः ।

रुद्रस्य कर्मभावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥ (ज्ञानार्णव २६/२)

× (क) रुद्रः क्रूराशयः कर्म तत्र भवं वा रौद्रम् । (सर्वार्थसिद्धि ६/२८/४४५/१०)

(ख) राजवार्तिक ६/२८/२/६२७/२८

(ग) भावपाहड़ टीका ७८/२०२६/१७

* (क) प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निघृणः ।

पुसांस्तत्र भं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम् ॥ (महापुराण २१/४२

[ख] तेणिऋमोससंरक्खणेंसु तह चेव छव्विहारंभे ।

रुद्रं कस्यसहितं ज्ञाणं जणियं समासेण ॥ (भगवती आरा-
घना, मूल, १७०३/१५२८)

(ग) मूलाचार ३६६

जैनपरम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन [१२४]

मारता है। यह ध्यान अत्यन्त अनिष्टकारी है। चोर, शत्रुजनों के वध सम्बन्धी महाद्वेष से उत्पन्न ध्यान रौद्र ध्यान कहलाता है। Δ

रौद्र ध्यान के भेद—

रौद्र ध्यान के हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण से चार प्रकार के भेद हैं। + इसमें जीव को हमेशा हिंसा में आनन्द आता है, चोरी करने में आनन्द का अनुभव करता है सदैव असत्य बोलने में ही उसे आनन्द की प्राप्ति होती है और विषयों की रक्षा करने में हमेशा तत्पर रहते हुए वह आनन्दित रहता है यही रौद्र ध्यान के भेद हैं। ☀ स्थानाङ्ग में भी रौद्र ध्यान को निरूपित करते हुए उसके चार ही भेदों का उल्लेख किया गया है।— हिंसादि में जीव आनन्द की प्राप्ति करता है इसलिए इन्हें हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषय संरक्षणानन्द भी कहते हैं। Δ लेकिन चारित्र-सार में बाह्य और आध्यात्मिक ये रौद्र ध्यान के दो भेद भी

Δ (क) चौरजारशात्रवजनवधवधन सन्निबद्धमहद्द्वेषजनित रौद्रध्यानम् ।
(नियमसार, तात्पर्यं वृत्ति ८६)

(ख) स्थानाङ्ग ४/२४७, समवायांग ४

(ग) दशवैकालिक सूत्र टीका, अध्ययन १

+ (क) हिंसानृतस्तेय विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ।
(तत्त्वार्थ सूत्र ६/३५)

[ख] भगवती २५/७

(ग) औपपातिक तपोऽधिकार सूत्र ३०

(घ) भगवती आराधना, वि० टी० १६६८

☀ (क) हिंसानन्दान्मृषानन्दाच्चौर्यात्संरक्षणात्तथा ।

प्रभवत्यङ्गि.गनां शश्वर्दपि रौद्र चतुर्विधम् ॥ (ज्ञानार्णव २६/३)

(ख) हिंसानन्द मृषानन्दस्तेयसंरक्षणात्मकम् ।। (महापुराण २१/४३)

(ग) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७३-४७४

— रोद्दे ज्ञाणे चउविवहे प० तं०—हिंसाणुबन्धि मोसाणुबन्धि तेषाणु-
बन्धि सारक्खणाणुबन्धि । (स्थानाङ्ग पृ० १८८)

Δ हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयानन्दसमाह्वयम् ।

विषयाद्यन्तसंरक्षणानन्दन्तच्चतुर्विधम् ॥ (मूलाचार प्रदीप ६/२०२४)

निरूपित किये गये हैं। →

हिंसानन्द रौद्र ध्यान :—

अन्य प्राणियों को अपने या किसी दूसरे के द्वारा मारने, काटने या या पीड़ित किये जाने पर अथवा ध्वंस किये जाने पर उसे जो हर्ष या सुख होता है वह हिंसानन्द रौद्रध्यान कहलाता है ।... जीव हिंसा में ही आनन्द प्राप्त करता है किसी दूसरे को पीड़ित करने में ही उसे सुखानुभूति होती है । × इस रौद्र ध्यान का आधार क्रोध कषाय है । इसलिए इस कषाय से पीड़ित होकर व्यक्ति क्रोधी हो जाता है और क्रोध में आकर वह हमेशा हिंसादि की बातें सोचता रहता है कि आज उसकी पिटाई करूँ, उसे चाबुक लगाऊँ । उसे अग्नि में जला दूँ इत्यादि भावनायें उसके दिल में आती रहती है । ऐसा व्यक्ति बहुत ही क्रूर और कठोर होता है । उसमें क्रोध का विष भरा रहता है । * उसका स्वभाव निर्दयी और बुद्धि पापमयी हो जाती है ।

→ रौद्रं च बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विविधम् । (चारित्रसार १७०/१)

... (क) हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते ।

स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धि सारौद्रमुच्यते ॥ (ज्ञानार्णव २६/४)

(ख) सत्त्वह-वेह-बंधण-डहणऽकण-मारणाइणिहाणं ।

अइकोहगहघत्थं निग्घणमणसोऽहमविवागं ॥ [ध्यान शतक १६]

(ग) तीव्रकषायानुरंजनं हिंसानन्दं प्रथमरौद्रम् । [चारित्रसार १७०/२]

(घ) हिंसाणदेणं जुदो असच्च वयणेण परिणदो जो हु । (कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७५)

× हिंसायां परपीडायां संरम्भाद्यैः कदर्थनैः ।

संक्रुत्पकरण्यद्वा बाधितेष्वंगिराशिषु ॥ (मूलाचार प्रदीप ६/२०२५)

* अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः ।

मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा ॥

(ज्ञानार्णव २६/५)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (१२६)

मृषानन्द रौद्रध्यान—

असत्य, झूठी कल्पनाओं से ग्रस्त होकर दूसरों को धोखा देने और छल कपट से उन्हें ठगने आदि का चिन्तन करना ही मृषानन्द रौद्रध्यान है। दूसरों को ठगने में चतुर व्यक्ति दूसरों को ठगने के लिए अपनी पापमय दुर्बुद्धि से मिथ्या वचन बोलते हैं, ऐसे व्यक्तियों को मृषानन्द नामक रौद्र ध्यान होता है। + ऐसे व्यक्ति को असत्य बोलने में ही आनन्द की प्राप्ति होती है और उसी में उसका चित्त विकसित हो जाता है। ☀ यदि व्यक्ति इस प्रकार से सोचे कि मैं अपने वचनों की कुशलता से अपने कार्य की सिद्धि के लिए दूसरों को अनर्थ के संकट में डाल दूँगा ऐसा चिन्तन करना भी रौद्र ध्यान होता है।— ऐसे ध्यान वाले मनुष्य का चित्त हमेशा झूठ फरेब आदि में लगा रहता है। वह अपना झूठ पकड़े जाने पर भी ढीठ बना रहता है।

चौर्यानन्द रौद्र ध्यान—

चोरी सम्बन्धी कार्यों, उपदेशों तथा चोरी के कर्मों में चतुरता का दिखाना ही चौर्यानन्द रौद्र ध्यान है इसमें जीव चोरी के कार्यों

△ (क) असत्यकल्पनाजाल कश्मलीकृतमानसः ।

चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥ (ज्ञानार्णव २६/१६)

(ख) स्वबुद्धि विकल्पितयुक्तिभिः परेषां श्रद्धेयरूपाभिः परवञ्चनं प्रति मृषाकथने संकल्पाध्यवसानं मृषानन्दं द्वितीय रौद्रम् ॥ (चारित्रसार १७०/२)

+ (क) पिसुणासम्भामम्भूय-भूय धायाइवयणपणिहाणं ।

माया विणोइसधणपरस्स पञ्छन्नपावस्स ॥ (ध्यान शतक २०)

(ख) दुर्बुद्धि कल्पनायुक्त्यापरवचन हेतवे ।

ब्रूयते यन्मषावाद परवचनपंडितं ॥ (मूलाचार प्रदीप ६/२००७)

☀ तत्थेव अथिर-चित्तोसद्दं ज्ञाणं हवे तस्स । (कार्तिकेयानुपेक्षा ४७६]

— पातयामि जनं मूढं व्यसनेऽनर्थसंकटे ।

वावकौशल प्रयोगेण वाञ्छितार्थप्रसिद्धये ॥ (ज्ञानार्णव २६/२१)

में ही तत्पर रखता है। Δ जो तीव्र क्रोध व लोभ से व्याकुल रहता है, उसका चित्त दूसरों के सामान को हड़पने में ही लगा रहता है ऐसे जीव को चोरी करने में ही आनन्द की प्राप्ति होती है। * वह हमेशा लोभ के कारण दूसरों की लक्ष्मी, स्त्री व धन को हड़पने का ही चिन्तवन अपने अशुभ चित्त में करता रहता है।.... ऐसा व्यक्ति चोरी, तस्करी आदि के विषय में ही चिन्तवन करता रहता है। परिणाम स्वरूप वह सभी प्रकार की चोरियाँ करने लगता है और अपनी चोरी में ही प्रसन्न रहकर गर्व करता है। यह ध्यान अत्यधिक निन्दा का कारण है। \times

विषय संरक्षणानन्द—

काम-भोग के साधन एवं धनादि के संरक्षण, उन्हें और अधिक बढ़ाने की लालसा, व्यापार आदि तथा धनोपार्जन के साधनों की लाम वृद्धि की अभिलाषा आदि सभी विषयसंरक्षणानन्द रौद्र ध्यान हैं। क्रूर परिणामों से युक्त होकर तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों से शत्रुओं को नष्ट करके उनके ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति को भोगने की इच्छा रखना, शत्रु से भयभीत होकर अपने धन, स्त्री, पुत्र राज्यादि के संरक्षण के विषय में तरह-तरह की चिन्ता करना विषय संरक्षणा—

Δ (क) तहतित्वकोह-लोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं ।

परदव्वहरणचित्तं परलोयावाय निरवेक्खं ॥ [ध्यानशतक २१]

[ख] हठात्कारेण प्रमादप्रतीक्षया वा परस्वापहरणं प्रति सकला-
ध्यवसानं तृतीयरौद्रम । (चारित्रसार १७०/२)

(ग) पर-विसय-हरण-सीतोसणीय-विसए सुरवखणे दुक्खो (काति-
केयानुप्रक्षा ४७६]

.... परश्री स्त्रीसुवस्त्वादिहरणे लोभिभिभृशम् ।

संकल्पः क्रियते चित्ते योशुभोवात्रतस्करैः ॥ (मूलाचार प्रदीप
६/२०२६)

\times ज्ञानार्णव २६/२५

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन [१२८]

नन्द रौद्र ध्यान है।* ऐसा जीव कामभोग के साधन आदि सांसारिक वंभव के संबन्ध और संरक्षण में सदा व्यस्त रहता है और हभेशा उनका ही चिन्तवन करता रहता है।+ यह भी अनिष्ट है—और आत्महितैषी सत्पुरुष उसकी कभी भी इच्छा नहीं करता।
रौद्रध्यान के बाह्य लक्षण—

आचार्यों ने क्रूरता, दण्डकी, परुषता, वञ्चकता, कठोरता, निर्दयता ये रौद्रध्यान के बाह्य चिन्ह बतलाये हैं। इसमें उसके अग्नि के समान लाल नेत्र हो जाते हैं, भोहें टेढ़ी हो जाती है, वह जीव कंपित देह वाला हो जाता है उसकी आकृति भयानक हो जाती है।☀ वह कठोर बोलता है, तिरस्कार करता है, ताड़न करता

* (क) बहुवाक्मभ परिग्रहेषु नियत रक्षार्थमभ्युद्यते,
यत्सकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः ।
यच्चालम्ब्य महत्वमुन्नतमना राजेत्यह मन्यते,
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निमलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥ [ज्ञानार्णव
२६/२६]

[ख] सद्दाइविसयसाहणधणसारक्खण परायणमणिट्ठं ।

सत्त्वाभि संकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥ [ध्यानशतक २२]

(ग) चेतनाचेतन लक्षणो स्वपरिग्रह ममेवेदं स्वमहमेवास्य स्वामीत्य—
भिनिवेशात्तदपहारकाव्यापादनेन संरक्षणं प्रति सकल्पाध्यवसानं
संरक्षणानन्दं चतुर्थं रौद्रम् ।

[चारित्रसार १७०/२]

+ मदीया -स्तुसद्राज्यरामसेनादि सम्पदः ।

यो हरेत्त दुरात्मानं हन्मि पौरुषयोगतः ॥

इतिस्ववस्तु रक्षायांसंकल्प करणंहृदि ।

दुधियां तत्समस्तं विषयसरक्षणाभिधम् ॥ (मूलाचार प्रदीप
६/२०३१-३२)

☀ विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे म्रूवका भीषणाकृतिः ।

कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥ [ज्ञानार्णव
२६/३८]

है, परस्त्री पर अतिक्रमण करता है। = ध्यान शतक में रौद्रध्यान के बाह्य करण-वचन और काय से रौद्रध्यानी जीव के चार दोष बतलाये गये हैं। Δ जो इस प्रकार हैं—उत्सन्न दोष, बहुलदोष नानाविध दोष और आमरण दोष। इस प्रकार से इन बाह्य लक्षणों से रौद्र ध्यानी का पता चल जाता है। महापुराण में चारों रौद्र ध्यानों के अलग-अलग लक्षण बतलाये गये हैं। *

रौद्रध्यान में गुणस्थान एवं स्वामी—

यह रौद्र ध्यान अविरत और देशविरत के होता है।... यह ध्यान छठे गुणस्थान के पहले पाँच गुणस्थानों में होता है। \times यह रौद्र ध्यान पाँच गुणस्थानवर्ती श्रावकों के मन द्वारा होता है, प्रमत्तसंय-तादि गुणस्थानों में वह नहीं होता। * यह केवल मिथ्यादृष्टि से

= परानुमेयं परुष निष्ठुराक्रोशन निर्भत्सेन बन्धनतर्जन ताडन पीडन परदारतिक्रमणादि लक्षणम् । (चारित्रसार १७०/१)

Δ (क) लिगाइं तस्स उत्सण्ण-बहुल-नाणाविहारस्समरणदोसा ।

तेसि चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥ (ध्यान शतक २६)

(ख) रौद्रकर्मभवं रौद्रकर्म भाव निबन्धनम् ।

रौद्रदुःखकरं रौद्रगति रौद्रद योगजम् ॥ (मूलाचार प्रदीप ६/२०३६ २०४०)

[ग] रुदस्स णं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पं० तं०-ओसण्ण दोसे बहुदोसे अन्नाणदोसे आमरणदोसे । (स्थानाङ्ग, पृ० १८८

* महापुराण २१/४६-५३)

... रौद्रमविरतदेशविरतयोः । (तत्त्वार्थ सूत्र ६/३५)

\times (क) स्यात्पञ्चगुण भूमिकम् । (ज्ञानार्णव २६/३६)

(ख) षष्ठात्तु तदगुणस्थानात् प्राक् पञ्चगुण भूमिकम् । [महा-पुराण २१/४३)

(ग) चारित्रसार १७१/१)

* इय करण-कारणाणुमइ विसयमणु चित्तणं चउब्भेयं ।

अविरय-देसासंजयजणमणसंसेवियमहणं ॥ (ध्यान शतक २३)

(१३०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

पंचम गुणस्थान तक के जीवों के ही होता है। Δ सर्व विरति मुनि को यह रौद्र ध्यान इसलिए नहीं होता क्योंकि वह हिंसादि पापों से मन वचन काया से प्रतिज्ञाबद्ध होकर सर्वथा विरमित है। वह कभी प्रमाद के कारण आतंङ्घ्यानी तो हो सकता है लेकिन रौद्रध्यानी नहीं हो सकता। मिथ्यादृष्टि जीवों को तो सच्चे तत्व एवं श्रद्धा का पता नहीं होता इसलिए वह इस रौद्रध्यान में फंस जाता है। वैसे ये ध्यान चाहे किसी के भी हो परन्तु, यह ध्यान प्रशंसनीय नहीं होता, यह सर्वथा त्यागने योग्य है।

रौद्र ध्यान और लेश्या एवं भाव—

यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ है। इसमें कापोत, नील एवं कृष्ण ये तीन अतिशय खोटी एवं अशुभ लेश्यायें हुआ करती हैं। + यह रौद्र ध्यान कृष्ण लेश्याओं के बल से संयुक्त है।☀ यह क्षायो-पशमिक भाव से युक्त है एवं इसका काल अन्तमुहूर्त पर्यन्त है। = यह ध्यान खोटी वस्तुओं पर ही होता है। इसमें भाव लेश्या और

Δ (क) रौद्रध्यानं तारतम्येन मिथ्यादृष्टि आदिपञ्चम गुणस्थानवर्तिजी-
वसंभवम् । [द्रव्यसंग्रह टीका २०१/६]

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६/३५/४४८)

(ग) आदिमे च गुणस्थाने त्रैदुतकृष्ट मंजसा ।

जघन्यं पंचमेस्याद्द्वित्रिचतुर्थे च मध्यमम् ॥

]मूलाचार प्रदीप ६/२०३८)

+ प्रकृष्ट तरदुर्लेश्यात्रयोपोद्भवुलंहितम् ।

अन्तमुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भाव इष्यते ॥ (महापुराण २१/४४)

☀ [क] कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम् । (ज्ञानार्णव २६/३६)

[ग] कावोय-नील-काला लेसाओ तिव्वसंकलिट्ठाओ ।

रोद्दज्ज्ञाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥ [ध्यान शतक
२५)

= (क) ज्ञानार्णव २६/३६)

(ख) उत्कृष्टाशुभलेश्यात्रयावला घानमस्य च ।

भाव औदयिको निद्यः क्षायोपशमिकोथवा ॥ (मूलाचार प्रदीप
६/२०३६)

कषायों की प्रधानतः होने से औद्यिक भाव है। Δ इस ध्यान में ये तीनों लेश्यायें अपने प्रभावशाली रूप में स्थित रहती हैं। यह अत्याधि दुःप्रभाव वाली होती हैं। लेश्या कमजन्म पुद्गल परिणाम है, जैसे वर्ण के पुद्गल होते हैं वैसे ही उसके सम्बन्ध से जीव को भाव जागता है। यह अप्रशस्त ध्यान जब जीवों पर होता है तब वह उसकी धर्मरूपी लक्ष्मी को क्षण भर में जला डालता है।

रौद्र ध्यान का फल—

रौद्र ध्यान सामान्य तौर से संसार की वृद्धि करने वाला है और खास तौर से नरक गति के पापों को उत्पन्न करने वाला है। * यह ध्यान नरकगति की जड़ है। अत्यन्त दुःख और सन्ताप से भरे हुए नरक में अनेक सागर पर्यंत डाले रखना इसका फल है।.... उत्कृष्ट दुखों को देने वाली गति नरक गति कहलाता है। रौद्र ध्यान में तीव्र संक्लेश ही होता है, इससे उनसे बाँधे जाने वाले सानुबन्ध कर्म द्वारा भव परम्परा का सर्जन होना, संसार की वृद्धि होना यह स्वाभाविक है। इससे व्यक्ति संसार के बन्धन में पड़ जाता है \times और नरक को प्राप्त करता है। यह ध्यान अतिशय कठिन फल वाला है, तीव्र दुःख ही इस रौद्र ध्यान का फल माना गया है। \times

Δ चारित्रसार १७०/५

* एयं वरुव्विहं राग-दोष-मौहाउलस्स जीवस्स।

रोद्दज्झाणं संसार बद्धणं नरयगइमूलं ॥ (ध्यान शतक २४)

.... बहु सागरपर्यंतफलमस्यदुरात्मनाम्। [मूलाचार प्रदीप ६/२०३५]

\times क्वचित्क्वचिदमी भावाः प्रवर्तन्ते मुनेरपि।

प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्रायः संसारकारणम् ॥ (ज्ञानार्णव २६/४२)

\times इति विगतकलकैर्वर्णितं चित्ररूपं दुरितविपिनबीजं निन्द्यदुर्ध्यान-युग्मम्। कटुकतरफलाढयं सम्यगालोच्य घोर त्यज सद्यदि यदि त्वं मोक्षमोर्गे प्रवृत्तः ॥ (ज्ञानार्णव २६/४४)

षष्ठ परिच्छेद

धर्मध्यान का स्वरूप

धर्म नाम स्वभाव का है। जीव का स्वभाव आनन्द है न कि ऐन्द्रिय सुख। अतः वह अतीन्द्रिय आनन्द ही जीव का धर्म है, जिससे धर्म का परिज्ञान होता है वही धर्मध्यान कहलाता है। × जो धर्म से युक्त होता है वह धर्म्य है और इससे जो ध्यान किया जाये वह धर्मध्यान है। + लेकिन कहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा गया है और उस धर्म चिन्तन से युक्त जो ध्यान होता है, वह धर्म ध्यान कहा गया है।— स्थानाङ्ग में इस ध्यान को श्रुत, चारित्र एवं धर्म से युक्त कहा है। Δ ज्ञानसार में रागद्वेष को त्याग कर साम्यभाव से जीवादि पदार्थों का अपने स्वरूप के अनुसार ध्यान करना धर्मध्यान माना गया है। ☀ अपने धर्म से च्युत न होकर स्वभाव में आरूढ़ रहना भी धर्म ध्यान माना गया है।....

× (क) धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगतमद्दवुदेसा।

उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥

(भगवती आराधना, विजयोदया टी० १७०४)

(ख) मूलाचार ६७९

+ (क) महापुराण २१/१३३

(ख) सर्वार्थसिद्धि ९/३६/४५०/४

(ग) भावपाहुड़ टीका ७८/२२६/१७

— (क) सदृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।

तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥ (तत्वानुशासन ५१)

(ख) रयणसार मूल ९७

Δ स्थानाङ्ग ४/२४७

☀ जीवादयो ये पदार्थाः ध्यातव्याः ते यथास्थिताः चैव।

धर्मं ध्यानं भणितं रागद्वेषौ प्रमुच्य..... ॥ (ज्ञानसार १७)

... तत्रानपेतं यद्धर्मात्तद्ध्यानं धर्म्यमिष्यते।

धर्म्योहि वस्तुयाथात्म्यमुत्पादादि त्रयात्मकम् ॥ [आदिपुराण १३३/२१]

तत्त्वानुशासन में रत्नत्रयसे युक्त ध्यान के अलावा, जो धर्म से युक्त ध्यान है वह भी धर्म ध्यान है ऐसा माना गया है।— जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य मोक्ष सुख का कारण है, वह भी धर्म ध्यान है। × जो मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का निज परिणाम है वह भी धर्म ध्यान है। * यह ध्यान प्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत आता है यह शुभ या सद्ध्यान माना गया है क्योंकि इस ध्यान से जीव का रागभाव मंद होता है और वह आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है। यह धर्मध्यान आत्मविकास का प्रथम सोपान है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि धर्म के स्वरूप का चिन्तन ही धर्मध्यान है। △ धर्म ध्यान प्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत आता है, इसलिए इस ध्यान को शुभ ध्यान भी कहा गया है।

धर्मध्यान के लक्षण :—

जिनसे धर्म ध्यान की पहचान हो वही लक्षण कहलाता है। धर्म ध्यान के आर्जव, लघुता, मार्दव और उपदेश ये चार प्रकार के लक्षण कहे गये हैं। +

१— आर्जव :—

जिसमें खिचाव आने पर भी कुटिलता नहीं आती अपितु सरलता ही रहती है ऐसी सरलता को आर्जव कहते हैं। अर्थात् काय, वचन और मन की प्रवृत्ति को सरल रखना आर्जव है।

— सदृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः ।

तस्माद्यदपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥ (तत्त्वानुशासन ५२)

× सदृष्टिज्ञान वृत्तानि मोह क्षोभ विवर्जितः ।

यश्चात्मनो भवेद् भावो धर्मः शर्मकरो हि सः ॥ (ध्यानस्तव १४)

* चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिदिदट्ठो ।

मोह क्लोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ (प्रवचनसार १/३७)

△ (क) धम्मो वत्थु-सहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।

रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥ (कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७८)

(ख) भगवती सूत्र २५/७/८०३

(ग) उत्तराध्ययन सूत्र ३०/३५

+ (क) भगवती आराधना, विजयोदया टी० १७०४

(ख) औपपातिक ०

(१३४) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

२-लघुता :-

अनासक्ति और निर्लोभता को लघुता कहते हैं।

३-मार्दव :-

कुल, जाति, बल, रूप, विद्या, ऐश्वर्य, धनादि बातों पर अहंकार न करना ही मार्दव है।

४-उपदेश :-

“उप” अर्थात् किसी के पास जाकर “देश” अर्थात् जिनमत का कथन करना ही उपदेश है।

लेकिन स्थानाङ्ग में धर्म ध्यान के अन्य चार लक्षण निर्दिष्ट हैं वहां-१-आज्ञा रुचि, २-निसर्ग रुचि, ३-सूत्र रुचि और ४-अवगाढ रुचि ये चार लक्षण कहे गये हैं और ज्ञानार्णव आदि में विषय लम्पटता का न होना, शरीर नीरोग होना, चित्त का प्रसन्न होना, आगम, उपदेश और जिनाज्ञा का अनुसरण करने वाला, विनयी, दानी, धर्म से प्रेम रखने वाला, सदाचारी, धर्म ध्यान के लक्षण कहे गये हैं। X

धर्म ध्यान के आलम्बन :-

वाचना, पृच्छना, परिवर्तन एवं अनुप्रेक्षा ये ध्यान के चार आलम्बन कहे गये हैं। *

.... स्थानाङ्ग ४/२४७

X (क) ज्ञानार्णव ४१/१५/१

(ख) मूलाचार प्रदीप २०४१

(ग) घवला १३/५,४, २६/५४-५५

(घ) आदिपुराण १५६-१६१/२१

* आलम्बणं च वायणपुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ ।

धम्मस्स तेण अविहद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ।:

(भवगती आराधना, विजयोदया टी० १७०५)

धर्मध्यान का स्वरूप (१३५)

स्थानाङ्ग में पृच्छना के स्थान पर प्रतिप्रच्छना शब्द का प्रयोग किया गया है और परिवर्तन को परिवर्तना कहा गया है। वैसे उसमें भी ये चारों भेद ही निर्दिष्ट किये गये हैं। ☀ ध्यान शतक में वाचना, प्रश्न, परावर्तन और अनुचिन्ता तथा सामायिक आदि व सद्धर्मावश्यक आदि धर्म ध्यान के आलम्बन कहे गये हैं। +

| | | |
|---------------|---|---------------------------------|
| वाचना | - | पढ़ना। |
| प्रतिप्रच्छना | - | शंका निवारण के लिए प्रश्न करना। |
| परिवर्तना | - | पुनरावर्तन करना। |
| अनुप्रेक्षा | - | अर्थ का चिन्तन करना। |

इस प्रकार ये चार प्रकार के आलम्बन धर्म ध्यान के हैं।

धर्म ध्यान तथा मैत्री आदिक भावनार्यैः—

धर्म ध्यान के लिए आगमों में चार प्रकार की भावनार्यै बतलायी गई हैं। वे इस प्रकार से हैं—१-मैत्री भावना ×, २-प्रमोद भावना △, ३-कारुण्य भावना ☀, और ४-माध्यस्थ भावना।....

आगमों के पश्चात् तत्त्वार्थ सूत्र में इसका उल्लेख मिलता है। :-

☀ स्थानाङ्ग ४/२४७

+ आलंबणां वायण-पुच्छण-परियट्टणाणुचिन्ताओ।

सामाइयाइयाइं सद्धम्मावस्सयाइं च ॥ (ध्यानशतक ४२)

× (क) मित्ती मे सव्वभूएसु। (आवश्यक सूत्र ४)

(ख) न विरुज्जेज्ज केणइ। (सूत्रकृताङ्ग १/१५/१३)

(ग) मेत्तिं भूएसु कप्पए। (उत्तराध्ययन ६/२)

△ सुस्सूसमाणो उवासेज्जा सुप्पन्नं सुतबस्सियं। (सूत्रकृताङ्ग १/६/३३)

☀ सव्वेसिं जीवियं पियं नाइवाएज्ज कंचणं। (आचाराङ्ग १/२/३)

... (क) अणुक्कसे अप्पलीणे मज्जेण मुणि जावए। (सूत्रकृताङ्ग १/१/४/२)

(ख) उवेहएणं बहिया य लोगं। से सव्व लोगम्मि जे केइ बिण्णू ॥

आचाराङ्ग १/४/३)

÷ मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थानि च सत्त्व गुणाधिक किलश्यमानावि-
नधेषु। (तत्त्वार्थ सूत्र ७/११)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन [१३६]

वहां कहा गया है कि प्राणीमात्र में मैत्री गुणाधिकों में प्रमोद, क्लिशयमानों में करुणा की वृत्ति और अविनीत जनों पर माध्यस्थ भाव रखना चाहिये :

इन चारों भावनाओं का वर्णन पातञ्जल योगसूत्र में भी मिलता है। + आचार्य हेमचन्द्र ने इन भावनाओं को ध्यान को पुष्ट करने वाला बतलाया है। उन्होंने कहा है कि मैत्री आदि भावनाओं से धर्मध्यान पुष्ट होता है ☀ आचार्य अमितगत ने इन भावनाओं के सम्बन्ध में एक बहुत ही प्रसिद्ध एवं उत्तम श्लोक कहा है :-

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।

माध्यस्थ्य भाव विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

आचार्य हरिभद्र ने जो आठ दृष्टियों का वर्णन किया है उनमें भी प्रथम दृष्टि का नाम "मित्रा" रखा है =

इन सबसे पता चलता है कि मैत्री आदि चारों भावनायें ध्यान (योग) से सम्बन्धित हैं। इनकी साधना साधक को समत्व ध्यान के समीप में पहुंचा देती है। इन चारों भावनाओं से धर्म ध्यान की वृद्धि होती है व उन्नति होती है और साधक के सभी रागद्वेष आदि से दूर हो जाते हैं।

मैत्री भावना :-

जिस साधक में मैत्री भावना होती है वह सभी जीवों को समान भाव से देखता है उन्हें अपनी आत्मा के समान जानता है। इस भावना के अभ्यास से उस साधक के हृदय में से ईर्ष्या शत्रुता आदि सभी अशुभ भावनायें समाप्त हो जाती हैं और सब जीव मेरे मित्र हैं ...

+ मैत्री करुणांमुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनात-
श्चितप्रदानम् । (पातञ्जल योगसूत्र, समाधिपाद, सूत्र ३३)

☀ मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि नियोजयेत् ।

धर्मध्यानमुपस्कृतुं तद्धि तस्य रसायनम् ॥ [योगशास्त्र ४/११]

= मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा ।

नामानि योगदृष्टीनां लक्षण च त्रिबोधत ॥ योगदृष्टि सप्तच्छय १३)

... उत्तराध्ययन ६/२

जीवन्तु जन्तेवः सर्वे क्लेशव्यसन वजितः ।

प्राप्तवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापम् पराभवम् ॥ (ज्ञानार्णव
२७/७)

ऐसी भावनायें बनवती हो जाती हैं। उसका अहिंसा भाव परिपुष्ट हो जाता है वह सभी जीवों के हित में अपना चित्त लगाये रखता है। वह सभी की कल्याण कामना करता हुआ सभी का मंगल करता है। वह हमेशा यही विचार करता रहता है कि सारे संसार के जीव मेरे अपने हैं इन सब ने मेरे ऊपर बहुत उपकार किये हैं। इस प्रकार की भावना से उसका मैत्री भाव बढ़ता है। उसके इस स्वभाव का प्रभाव अन्य लोगों पर भी पड़ता है और वे भी शत्रुता को छोड़कर साधक बन जाते हैं। इस भावना का विषय प्राणीमात्र है। वह समता योगी बन जाता है।

प्रमोद भावना :—

आध्यात्मिक उन्नति और अध्यात्म योग की साधना के लिए साधक को गुण ग्रहण करने चाहिये। साधक गुणों को तभी ग्रहण कर सकता है जब वह गुणवान व्यक्तियों के प्रति प्रेम भाव रखे और उनका सम्मान करे। प्रमोद भावना की साधना के द्वारा व्यक्ति (साधक) अपनी गुण को ग्रहण करने की शक्ति को उन्नत करता है। गुणी लोगों के सम्पर्क में आने से एवं उनसे प्रेम करने व उनका सम्मान करने से उसके अन्दर भी सभी सद्गुण आ जाते हैं उसकी इसी विनम्रतापूर्ण भावना से उसके सद्गुणों का विकास होता है कि- तुम्हारा आज्ञा आश्चर्यकारी है और आश्चर्यकारी है तुम्हारा मार्ग। उत्तम है तुम्हारी क्षमा और मुक्ति। + इस प्रमोद भावना को समता योग का नेत्र कहा गया है। जैसे नेत्र सुन्दर, असुन्दर सभी चीजों को देखता है किन्तु सुन्दर वस्तुओं के प्रति ही आकर्षित होता है उसी प्रकार से गुणी व्यक्ति सद्गुणों को ही ग्रहण करता है। यह गुण ग्रहण करना ही प्रमोद भावना कहलाता है।

कारुण्य भावना :—

बन्धन से मुक्त करने का प्रयत्न व चिन्तन करना ही कारुण्य भावना कहलाती है।☀

+ (क) उत्तराध्ययन ६/५७

(ख) ज्ञानार्णव २७/११-१२

☀ (क) उत्तराध्ययन १३/१६

(ख) ज्ञानार्णव २७/८-१०

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (१३८)

अर्थात् जो साधक कारुण्य भावना का अनुचिन्तन करता है वह न तो स्वयं कभी भयभीत रहता है और न ही कभी किसी को भयभीत करता है। अपितु वह भय से आक्रान्त एवं दुखी प्राणियों के प्रति प्रेम रखता है और चाहता है कि सभी सुखी रहें, सब के दुखों का अन्त हो जाये-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत् ॥

कारुण्य भावना का बार-बार अभ्यास करने से साधक का हृदय दया से परिपूर्ण हो जाता है, उसके हृदय में करुणा एवं वात्सल्य का सागर उमड़ने लगता है। वह “स्व” एवं “पर” दोनों प्रकार की दया से परिपूर्ण व्यवहार करता हुआ उनका पालन करता है। “स्व” अर्थात् अपनी आत्मा को पीड़ित नहीं करता है, “पर” अर्थात् वह कभी भी दूसरों को कष्ट नहीं देता। यह भावना समता योग का हृदय कहलाती है, अर्थात् जो स्थान शरीर में हृदय का होता है, वही स्थान समता योग में कारुण्य भावना का है। जिस साधक का चित्त निर्मल एवं हृदय कोमल होता है जो किसी दूसरे का दुख न देख सके, उसी को समता योग की साधना की सिद्धि प्राप्त होती है कठोर हृदय वाला इसकी साधना नहीं कर सकता। यह अध्वात्म योग का लक्ष्य है।

माध्यस्थ भावना :-

समझाने-बुझाने पर भी सामने वाला व्यक्ति दंष्ट्र का त्याग न करे, उस स्थिति में उत्तेजित न होना, किन्तु योग्यता की विचित्रता का चिन्तन करता है वही माध्यस्थ भावना है। + माध्यस्थ भावना का दूसरा नाम उपेक्षा वृत्ति है। राग द्वेष को न करना, सुख दुख की प्रतिकूल स्थितियों में भी समान रूप से रहना सदैव उपेक्षावृत्ति एवं माध्यस्थ भावना में रमण करना ये ही इस भावना के चिन्ह हैं।☀

+ उत्तराध्ययन १३/२३

☀ ज्ञानार्णव २७/१४

जो साधक इस भावना का अभ्यास करता है वह प्रतिकूल स्थिति आने पर भी समभाव से यही सोचता है कि दुख और सुख एक सिक्के के दो पहलू हैं इनमें से कभी सुख आता है और कभी दुख । सुख आने पर अत्यधिक हर्ष नहीं करता और दुःख के आगमन पर विषाद भी नहीं करता । माध्यस्थ भावना द्विमुखी है—यह राग और द्वेष दोनों पर ही विजय प्राप्त करती है । दोनों ही परिस्थितियों में समभाव से रहने वाले साधक सदैव सुखी रहते हैं । जो मनुष्य सुख आने पर भावों में आसक्त हो जाता है और प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर द्वेष भाव से युक्त हो जाता है वह अज्ञानी पुरुष हमेशा दुखी रहता है ।*

वह यही सोचता है कि ये सांसारिक सुख और दुःख की परिस्थितियाँ न तो शाश्वत हैं और न ही स्थिर, ये सब संसार तो परिवर्तनशील है, इसलिए राग द्वेष की भावना करना व्यर्थ है और उसके (साधक) इन्हीं विचारों से वह समभाव की स्थिति में पहुँच जाता है । जहाँ उसे न तो शोक होता है और न हर्ष, वह इन सबसे परे पहुँच जाता है । जहाँ उसे न तो कषायों की कलुषता रहती है न ही राग द्वेष की ज्वाला जलती है वह तो इन्द्रियों पर भी विजय प्राप्त कर लेता है । यह माध्यस्थ भावना समत्व योग की अन्तिम परिणति है; लक्ष्य बिन्दु है ।

इन मंत्रों आदि चारों भावनाओं से साधक वीतरागता को प्राप्त करता है । उसके आत्मिक भावों की उन्नति होती है और एक दिन वह आत्मोन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है यही मानव का चरम लक्ष्य है जो वह प्राप्त कर लेता है, और उसके विशुद्ध ध्यान का क्रम जो विच्छिन्न होता है वह पुनः सध जाता है +

* एगन्तरत्ते रुडरंसि भावे, अतालसे सो कुणः पओसं ।

दुक्खस्स संपीलमुवेइ दाले, न लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥ (उत्तरा-
ध्ययन ३२]६१)

+ [क] आत्मानं भावयन्नाभिर्भावनाभिर्महामतिः ।

व्रुटितामपि संघत्ते, विशुद्धध्यानसन्ततिम् ॥ [योगशास्त्र ४/१२२]

[ख] आभिर्यदानिशं विश्वं भावयत्यखिलं वशी ।

तदौदासीन्यमापन्नश्चरत्यत्रैव मुक्तवत् ॥ (ज्ञानार्णव २७/१६)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (१४०)

धर्मध्यान की मर्यादायें :-

ध्यान करने की कुछ मर्यादायें हैं उन्हें समझ लेने पर ही ध्यान प्राप्त होता है। अधिकतर सभी ध्यान शास्त्रों में कहीं कम तो कहीं ज्यादा रूप से उसकी चर्चा की गई है। ध्यान शतक में ध्यान से सम्बन्धित बारह विषयों पर विचार करने के लिए एवं उनका अभ्यास करने के लिए कहा गया है। वे बारह विचार इस प्रकार से हैं-१-भावना, २-देश, ३-काल, ४-आसन विशेष, ५-आलम्बन, ६-क्रम, ७-ध्यातव्य, ८-ध्याता, ९-अनुप्रेक्षा, १०-लेश्या, ११-लिङ्ग, १२-फल। X

आदिपुराण में भी इन्हीं विचारों को प्ररूपित किया है। + इन बारह द्वारों से धर्म ध्यान का अच्छा परिचय प्राप्त करके उसकी भावना आदि का अच्छा अभ्यास करना चाहिये।

१-भाधना :-

ध्यान से पूर्व जो भावना अर्थात् अभ्यास के साधन का अच्छी तरह से विचार कर लेता है वह साधक धर्मध्यान की योग्यता को प्राप्त कर लेता है। इसके लिए चार भावनायें कही गयी हैं। * १-ज्ञान भावना, २-दर्शन भावना, ३-चारित्र्य भावना, ४-वैराग्य भावना।

X ज्ञाणस्स भावणाओ देसं कालं तहासणविसेसं।

आलेवणं कमं ज्ञाइयवयं जे य ज्ञायारो ॥

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिगं फलं य नाऊणं।

धम्मं ज्ञाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्क। (ध्यानशतक २८, २९)

+ आदिपुराण २१/५४

* (क) ध्यानशतक ३०

(ख) आदिपुराण २१/६५

भावनाभिरसंमूढो मुनिध्यानस्थिरीभवेत्।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य-वैराग्योपगताश्च ताः। २१/६५

१-ज्ञान भावना :-

ज्ञान का अभ्यास करना ही ज्ञान भावना है । इसके आश्रय से साधक का मन अशुभ कार्यों को छोड़कर शुभ कार्यों में लगता है, और वह तत्व क्या है और अतत्व क्या है इस रहस्य को जान लेने पर स्थिर बुद्धि वाला होकर ध्यान को करने में लग जाता है । + ज्ञान में मन का लीन हो जाना ही ज्ञान भावना है । ज्ञान भावना के पांच प्रकार बतलाये गये हैं ॥ १-वाचना, २-पृच्छना, ३-अनु-प्रोक्षण, ४-परिवर्तन, ५-सद्धमेदेशन । ध्यानशतककार ने इन पांचों प्रकारों को धर्म ध्यान के आलम्बन के रूप में स्वीकार किया है । —

२-दर्शन भावना :-

मानसिक मूढ़ता के निरसन का अभ्यास करना ही दर्शन भावना है । इसमें आत्मा सम्यग्दर्शन से ऐसा भावित हो जाता है कि यदि वैसा न हो तो उसके विपरीत दोषों के कारण ध्यान असम्भव हो जाता है ऐसा इन गुणों के कारण स्थिर रूप से ध्यान करता है। दर्शन भावना के पाँच गुण और पाँच दोष कहे गये हैं।.... पाँच गुण इस प्रकार हैं-१-प्रशम, २-संवेग, ३-निर्वेद, ४-अनुकम्पा, ५-आस्तिक्य ।

पाँच दोष इस प्रकार हैं-

१-शंका, २-कांक्षा, ३-विचिकित्सा, ४-प्रशंसा, ५-सस्तव । जबकि आदिपुराण में दर्शन भावना के सात प्रकार कहे गये हैं । ×

+ ज्ञानेणिच्चम्भासो कुण्डमणोधारणं विसुद्धिं च ।

गाणगुण मुणियासारो सोझाइ सुनिच्चलमई ओ ॥ [ध्यानशतक ३१]

☀ आदिपुराण २१/६६

— ध्यानशतक ४२

... वही ३२

× संवेग, प्रशम, स्थैर्य, अमूढ़ता, अगवंता, आस्तिक्य एवं अनुकम्पा ये सात प्रकार हैं । [आदिपुराण २१/६६-६६]

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन [१४२]

प्रशम :-

क्रोध, मान, माया, लोभ का उदय न होना ही प्रशम है । अर्थात् उदय में आये हुए कषायों के भावों का शमन करना ही प्रशम है ।

संवेग :-

मोक्ष की तीव्र अभिलाषा का उत्पन्न होना ही संवेग है अर्थात् मोक्ष सुख का और उसके लिए देव, गुरु, धर्म का ऐसा रंग हो कि जिससे सांसारिक रंग उतर जाये यह ही संवेग है ।

निर्वेद :-

सांसारिक विषय भोगों के प्रति विरक्ति होना उनको हेय समझ कर उनकी उपेक्षा का भाव जगना उनके प्रति अभाव, ग्लानि, अनास्था के उत्पन्न होने को निर्वेद कहते हैं ।

अनुकम्पा :-

बिना किसी भेदभाव के दुखी जोवों पर दया करके दुख को दूर करने की इच्छा या प्रयास करना अनुकम्पा है ।

आस्तिक्य :-

सर्वज्ञकथित तत्वों में थोड़ी सी भी शंका न करके पूरी तरह से आस्था रखना, आत्मा एवं लोक सत्ता में पूर्ण रूप से विश्वास करना ही आस्तिक्य है ।

दशानं भावना के पांच दोष भी हैं, ये इस प्रकार हैं--

शंका :-

जिन वचन पर विश्वास न करके शंका करना।

काँक्षा :-

बौद्ध आदि अन्य मतों की आकांक्षा या अभिलाषा।

विचिकित्सा :-

युक्ति और आगम से संगत क्रिया में भी रोग की चिकित्सा की तरह फल की शंका करना ।

प्रशंसा :-

सर्वज्ञ एवं व्रतधारी और तत्त्वज्ञ की स्तुति न करके किसी दूसरे पाखण्डी की प्रशंसा करना ।

संस्तव :-

मिथ्यादृष्टियों से मिलना-जुलना एवं उनका परिचय ये सब त्याज्य हैं क्योंकि अज्ञानी जीवों के साथ रहने से उनमें हृषि उत्पन्न हो जाती है ।

३-चारित्र्य भावना :-

समता का अभ्यास अर्थात् चारित्र्य के अभ्यास को चारित्र्य भावना कहते हैं । + लोक और जीवों के द्वारा प्रशंसनीय बर्ताव जिस प्रकार के क्षयोपशन से होता है वह चारित्र्य कहलाता है । इस भावना के रहने से जीव को अर्थात् साधक को तीन प्रकार के फल स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं । १-नवीन कर्मों के ग्रहण का अभाव, २-पूर्व संचित कर्मों का निर्जरा, ३-शुभ कर्मों का ग्रहण और ध्यान । जबकि आदि-पुराण में चारित्र्य भावना के नौ प्रकार बतलाये गये हैं । ☀ पांच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ और कष्ट सहिष्णुता । पांच समितियाँ-१-ईर्या समिति, २-भाषा समिति, ३-एषणा समिति, ४-आदान निक्षेपण समिति, ५-व्यूत्सगं समिति और मनोगुप्ति, वचन गुप्ति एवं कायगुप्ति ये तीन प्रकार की गुप्तियाँ हैं ।

+ नवकम्माणायाणं पौराणविणिज्जरं सुभायाणं ।

चारित्त भावणाए ज्ञाणमयत्तेण य समेहः ॥ (ध्यान शतक ३३)

☀ आदिपुराण २१/६७

(१४४) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

४-वैराग्य भावना :-

जगत् के स्वभाव का यथार्थ दर्शन करके विषयासक्ति से रहित होना एवं भय और आकांक्षा से मुक्त होना ही वैराग्य भावना है। अर्थात् जो प्राणी चराचर जगत् के स्वभाव को अच्छी तरह से जान लेता है उसके अन्तःकरण में वैराग्य की भावना प्रस्फुटित हो जाती है। + वैराग्य भावना के तीन प्रकार कहे गये हैं-१-विषयों में अनासक्ति, २-काव्यतत्व का अनुचिन्तन एवं ३-जगत् के स्वभाव का विवेचन।

२-ध्यान के लिए देश या स्थान :-

ध्यान के लिए एकान्त स्थान अधिकतर माना गया है, वह स्थान निर्जन होना चाहिये क्योंकि इससे उसके सामने इन्द्रियों के विषय नहीं आते हैं और साधक का मन भी विचलित नहीं होता है इसलिये मुनियों के लिए एकान्त स्थान ही सामान्य कहा गया है किन्तु कभी-कभी यह देखने को मिलता है कि एकान्त वास में उसका चित्त एकाग्र नहीं हो पाता इसलिए जरूरी नहीं है कि ध्यान के लिए एकान्त स्थान ही हो। ☀ भगवान महावीर ने कहा है कि साधना गांव में भी हो सकती है और वन में भी, इसके लिए भाव का होना आवश्यक है। — वैसे जो स्थान स्त्रियों, पशुओं, नपुंसक जीवों एवं क्षुद्र मनुष्यों से सेवित हो, वह स्थान सर्वथा त्याज्य माना गया है। ... ऐसा स्थान जहाँ दुष्ट राजा, पाखंडी लोग, मद्यपानी, जुआरी आदि लोग रहते हों वह स्थान कभी भी ध्यान के लिए उपयुक्त नहीं माना गया है। Δ

+ सुविदियजगस्सभावो नस्सगो निब्भओ निरासो य।

वैरगगभावियमणो ज्ञाणमि सुनिच्चलो होइ ॥ [ध्यानशतक ३४]

☀ महापुराण पर्व २१/७०-८०

— गामे वा अदुवा रण्णे, णेव गामे णेव रण्णे धम्ममायाणह (आचाराङ्ग

१/८/१/१४)

.... (क) स्त्रीपशुकलीवसंसक्तरहित विजनं मुनेः।

सवदेवोचित स्थानं ध्य नकाले विशेषतः ॥ (आर्ष, २१-७७)

(ख) ध्यानशतक ३५

(ग) तत्वानुशासन ६०-६१

Δ ज्ञानार्णव २७/२३-२६

वैसे ध्यान के लिए विशेष रूप से कोई प्रदेश की ऐकान्तिक मर्यादा नहीं है, धीर व्यक्ति निर्जन एवं जनयुक्त दोनों ही स्थानों में ध्यान कर सकता है उसके लिए देश या स्थान की महत्ता कुछ नहीं होती बस जहां मन, वाणी और शरीर को समाधान मिले वही स्थान ध्यान के लिए सर्वोत्तम माना गया है । +

३-काल :-

ध्यान की सिद्धि के लिए सामान्यतः किसी काल तथा अवस्था का कोई नियम नहीं है जिस काल में ध्यान की निर्विघ्न सिद्धि हो वही काल सर्वोत्तम है । ☀ यह ध्यानसर्वकालिक है जब भी भावना हो तभी किया जा सकता है ।— जब भी मन का समाधान हो इसके लिए रात या दिन किसी भी विशेष समय का उपदेश नहीं है ।

४-आसन :-

ध्यान के लिए जो आसन शरीर के लिए सुलभ हो वही उपयुक्त माना गया है जिस आसन से शरीर को कष्ट न हो । खड़े, बैठे और सोते तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है । ✨ वैसे कायोत्सर्ग, पद्मासन और वीरासन आदि ध्यान के लिए योग्य माने गये हैं । Δ ध्यान किसी ऊँचे आसनादि पर बैठकर नहीं करना चाहिये उसके लिए 'भूतल' और 'शिलापट्ट' ये दोनों उपयुक्त माने गये हैं →

+ धिर-कय जागाण पुण मुणीण ज्ञाणे सुनिच्चलमणाणं ।

गाममि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥ (ध्यानशतक ३६)

☀ कालो वि सो च्चिय जहि जोगसमाहाणमुत्तमं लहई ।

न उ दिवसनिसावेलाइ नियमणं ज्ञाइणो भणियं ॥ (ध्यानशतक ३८)

— न चाहोरात्र सन्ध्यादि-लक्षणः कालपर्ययः ।

नियतोऽस्यास्ति दिध्यासोः तद्ध्यानं सार्वकालिकम् ॥

(महापुराण २१/८१)

✨ वही २१/७५

Δ ध्यानशतक ३६

→ भूतले वा शिलापट्टे सुखाऽऽसीनः स्थितोऽथवा ।

सममृज्वायत गात्रं निःकम्पाऽवयवं दधत् ॥ (तत्त्वानुशासन ६२)

सममृज्वायतं विभ्रद्गात्रमस्तब्धवृत्तिकम् । (आषं २१/६०)

(१४६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

५-आलम्बन :-

जिस प्रकार मजबूत रस्सी का सहारा लेकर व्यक्ति दुर्गम से दुर्गम स्थान पर पहुँच जाता है या कुएं में गिरने पर मजबूत रस्सी का सहारा लेकर ऊपर आ जाता है उसी प्रकार ध्याता भी ध्यान के आलम्बनों का सहारा लेकर श्रेष्ठ एवं उत्तम ध्यान की प्राप्ति कर लेता है । * ये आलम्बन चार प्रकार के हैं—१-वाचना, २-प्रतिपृच्छना, ३-परिवर्तना, ४-अनुप्रेक्षा ।

६-क्रम :-

पहले स्थिर रहने का अभ्यास करना चाहिये और फिर मौन रहने का अभ्यास करना चाहिये । केवल ज्ञानी जब मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य के निकट आ जाते हैं तो वे पहले मनोयोग का निग्रह करते हैं उसके पश्चात् वचनयोग का निग्रह करके ही सूक्ष्म रूप से काययोग का निग्रह करते हैं । वैसे तो केवल ज्ञानियों को ध्यान की साधना नहीं करनी पड़ती किन्तु जब वे मोक्ष के अत्यन्त समीप में पहुँचते हैं तो उन्हें मोक्ष प्राप्ति के लिए योग का निरोध करना ही पड़ता है क्योंकि योग का निरोध किये बिना मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है । कर्म के बन्ध से जब तक वह मुक्त नहीं होवेगा तब तक उसका कर्मबोध चलता ही रहता है और कर्मों के बन्ध में मिथ्यात्व, अवि-रति, प्रमाद, कषाय के बाद योग मुख्य कारण होता है अतः योग का निरोध करना जरूरी हो जाता है । यह क्रिया भवकाल के अन्त-गंत आती है और दूसरे क्रम में जब केवल ज्ञानी मोक्ष के अति निकट पहुँचकर समस्त योगों का निरोध करने की क्रिया को करता है तो वह क्रिया शैलेशी क्रिया कहलाती है । इस प्रकार से ध्यान प्राप्ति के दो क्रम कहे गये हैं । × वैसे अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान साधना के अनेक क्रम भी हो सकते हैं ।

* ध्यानशतक ४३, आदिपुराण २१/८८

× ज्ञाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ ।

भवकाले केवल्लिणो सेसाण जहासमाहीए ॥ (ध्यानशतक ४४)

७-ध्यातव्य का ध्येय :-

जिसका चिन्तन किया जाये ऐसा ध्यान का विषय ध्यातव्य या ध्येय कहलाता है। ध्यान करने योग्य पदार्थ, वस्तु और आलम्बन जिसका ध्यान किया जा सके, जिस पर मन को एकाग्र किया जा सके वही ध्येय है। ध्यान के भेद ध्येय का आश्रय लेकर किये गये हैं। आज्ञा, विपाक, अपाय और संस्थान, ये चार धर्मध्यान के प्रकार बतलाये गये हैं। + लेकिन इस प्रकार से और अनेक प्रकार भी हो सकते हैं इनकी संख्या निश्चित नहीं हो सकती। जिनसेन ने शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीन प्रकार के ध्येय बतलाये हैं इन तीनों से ही जगत् के सभी पदार्थ ध्येय की कोटि को प्राप्त हो जाते हैं।☀

८-ध्याता :-

ध्यान करने वाला साधक ध्याता कहलाता है। ध्यान करने के लिए विशेष गुणों की आवश्यकता होती है जो साधक इन विशेष गुणों से युक्त होता है वही धर्मध्यान का ध्याता बनता है। ध्यानशतक में ध्याता के लिए तीन गुण बतलाये गये हैं — :-

- अप्रमादी - जो मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा जो इन पांचों प्रमादों से रहित हो वही ध्याता है।
निर्मोही - जिस साधक का मोह क्षीय हो गया हो या मोह का क्षय होकर प्रशान्त मोह वाला हो।
ज्ञान सम्पन्न- जो ज्ञान रूपी धन सम्पदा से युक्त हो वही साधक धर्म ध्यान का अधिकारी या ध्याता होता है।

+ (क) आज्ञापाय विपाकानां, संस्थानस्य चिन्तनात्।

इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्म्यं ध्यानं चतुर्विधम् ॥ (योगशास्त्र
१०/७)

(ख) ध्यानशतक ४५-४६

☀ आदिपुराण २१/१३४

— सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहा य।

ज्ञायारो नाण-धणा धम्मज्झाणस्स निदिदट्ठा ॥ (ध्यानशतक ६३)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (१४८)

तत्त्वानुशासन में ध्याता उसे कहा गया है जिसकी मुक्ति निकट आ रही हो, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हो, जो परिग्रह त्यागी हो जिसने आर्त्त व रौद्र ध्यान का त्याग करके ध्यान में चित्त को लगा लिया हो वही ध्याता कहलाता है। + यहाँ ध्यान की सामग्री के आधार पर भी ध्याता व ध्यान के तीन-तीन भेद किये हैं—

| | | |
|------------------|-----------------|----------------|
| उत्कृष्ट सामग्री | उत्कृष्ट ध्याता | उत्कृष्ट ध्यान |
| मध्यम सामग्री | मध्यम ध्याता | मध्यम ध्यान |
| जघन्य सामग्री | जघन्य ध्याता | जघन्य ध्यान ☀ |

आचार्य जिनसेन ने जो वज्रवृषभ नाराच संहनन नामक अतिशय बलवान शरीर वाला, जो शास्त्रों का ज्ञाता हो, तप करने में शूरवीर हो एवं जिसने सभी अशुभ लेश्याओं का त्याग किया हो आदि इन गुणों से युक्त साधक को ध्याता कहा है।— ऐसा नहीं है कि जो व्यक्ति ज्ञानी हो वही धर्म्य ध्यान का अधिकारी हो अल्पज्ञानी भी ध्याता हो सकता है लेकिन जिसका मन अस्थिर हो वह ध्याता नहीं हो सकता है।* ध्यान के लिए ज्ञानी होना कोई जरूरी नहीं है। गृहस्थ व्यक्ति को भी जिसमें सभी गुण होते हैं ध्याता माना गया है उसको भी धर्म्य ध्यान हो सकता है।....

अनुप्रेक्षा :-

स्वाध्याय और ध्यान ये दोनों आत्मोपलब्धि के साधन हैं। ये दोनों एक-दूसरे के सहायक हैं इसलिए एक के द्वारा दूसरे का अभ्यास किया जाता है. दोनों का अभ्यास जब खूब परिपक्व हो जाता है तो वह परमविशुद्ध स्वानुभूति का विषय बन जाता है।=

+ तत्त्वानुशासन ४१-४५

☀ सामग्रीतः प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमम् ।

स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमम् ॥ (तत्त्वानुशासन ४६)

— आदिपुराण २१/८५-८६

* महापुराण २१/१०२

.... ज्ञानार्णव ४/१७

= स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमाऽऽमनेत् ।

ध्यान-स्वाध्याय-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ (तत्त्वानुशासन ८१)

स्वाध्याय का एक अंग अनुप्रेक्षा भी है। ध्यान की सिद्धि के लिए अनुप्रेक्षा का अभ्यास बहुत ही जरूरी है। इनके अभ्यास से साधक का मन सुवासित हो जाता है वह समभाव को प्राप्त हो जाता है। धर्मध्यान के लिए स्थानाङ्ग में चार अनुप्रेक्षाएँ बतलायी गयी हैं। + लेकिन ध्यानशतक में सभी बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने के लिए कहा गया है। इन बारह अनुप्रेक्षाओं का कथन पहले किया जा चुका है। * धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ इस प्रकार हैं :-

एकत्व अनुप्रेक्षा - उवे लेपन का अनुभव करके चिन्तन करना।

अनित्य अनुप्रेक्षा - जगत् में सभी पदार्थ अनित्य हैं, नश्वर हैं।

अशरण अनुप्रेक्षा - जगत् में धर्म के सिवा कोई शरण नहीं है।

संसार अनुप्रेक्षा - संसार में जन्म-मरण के चक्र का चिन्तन करना।

स्वाध्याय आदि तपोयोग एवं बारह अनुप्रेक्षाएँ ये सब ध्यान के ही परिवार हैं। - अतः मोक्ष के अभिलाषी को निरन्तर ध्यान का यत्न करना चाहिये।

१०-लेश्या :-

लेश्या ध्यान साधना का नाम है, किन्तु इसमें प्रक्रिया और अनुभूतियाँ नई नहीं होती हैं। यह कषायों से अनुरजित योगों की प्रवृत्ति है।....

+ ज्ञाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो।

होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुट्ठिं ॥ (ध्यानशतक ६५)

* धम्मस्स णं ज्ञाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पं. तं-एगाणुप्पेहा अणि-
च्चाणुप्पेहा असरणाणुप्पेहा ससाराणुप्पेहा (स्थानाङ्ग पृ. १८८)

— ध्यानस्यैव तपोयोगाः शेषाः परिकरा मताः

ध्यानाभ्यासे ततो यत्नः शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ॥ (आर्षं २१/२१५)

.... (क) मोहोदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो। (गोम्मटसार,
जीवकाण्ड, मूल ५३६/६३१)

(ख) कषायोदयारजिता योगप्रवृत्तिरिति (सर्वार्थसिद्धि २/६/१५६/११)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (१५०)

मानव के अन्दर के मन में दो प्रकार के स्पन्दन निरन्तर होते रहते हैं और साथ ही साथ दो प्रकार की धारयाँ बहती रहती हैं, जिनमें एक धारा विचारों की होती है और दूसरी धारा भावों की होती है। ज्ञान से सम्बन्धित धारा विचारों की कहलाती है। भावों की धारा कषायों अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ की धारा कहलाती है यह प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार की होती है। यह धारा मोह जन्य कहलाती है।

आगमों में लेश्या को आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया रूप बतलाया गया है। + जैन दर्शन के अनुसार लेश्या के दो भेद-भाव लेश्या एवं द्रव्य लेश्या किये गये हैं। ☼ वैसे लेश्या के छः प्रकार किये गये हैं—१-कृष्ण लेश्या २-नील लेश्या, ३-कापोत लेश्या, ४-तेजो लेश्या, ५-पद्म लेश्या, ६-शुक्ल लेश्या। — धमध्यान चूंकि शुभ ध्यान के अन्तर्गत आता है इसलिए इसमें शुभ लेश्या ही होती है। इन शुभ लेश्याओं में पीत अर्थात् तेजो लेश्या, पद्म लेश्या एवं शुक्ल लेश्या आती हैं। ये तीनों लेश्यायें जीव में क्रम से विशुद्धि की प्राप्त होकर आती हैं। * क्योंकि तेजस् लेश्या से पद्म लेश्या शुद्ध होती है और पद्म लेश्या से शुक्ल लेश्या विशुद्ध होती है। हर एक लेश्या के परिणाम भी मन्द, मध्यम और तीव्र होते हैं। धमध्यान में ये लेश्यायें मन्द से मध्यम रूप तक ही होती हैं।

+ लेश्यति-श्लेष्यतिवार्तमान जननयनानीति लेश्या-अतीव चक्षुरा-पेक्षिका स्निग्धदीप्त रूपा छाया। [उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०)

☼ (क) लेश्या द्विविधा द्रव्य लेश्या भावलेश्या चेति। (सर्वार्थसिद्धि २/६/१५६/१०)

(ख) राजवातिक २/६/८/१०६/२२

(ग) धवला २/१/१/४१६/८

— (क) सा षड्विधा-कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो-लेश्या, पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या चेति। (सर्वार्थसिद्धि २/६/१५६[१२])

(ख) द्रव्य सग्रह, टीका १३/३८

* ध्यानशतक ६६, आदिपुराण २१/१५५-५६

लिङ्ग :-

साधु आदि के बाह्य वेष को लिङ्ग कहते हैं। जैन दर्शन में इसके तीन प्रकार माने गये हैं—१-साधु, २-आयिका, ३-उत्कृष्ट भावक। ये तीनों भी द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार के हो जाते हैं। जिनमें शरीर का वेष द्रव्य लिङ्ग और अन्दर की वीतरागता भावलिङ्ग कहे जाते हैं। लिङ्ग शब्द चिन्ह अर्थात् लक्षण का वाचक होता है। ध्यान व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्ति होता है उसे देखा नहीं जा सकता है, किन्तु उस व्यक्ति की सत्य से सम्बन्धित आस्था को देखकर उस ध्यान को माना जा सकता है इसलिए यह सत्य की आस्था ही उसका लिङ्ग होता है। धर्म ध्यान के चार लिङ्ग बतलाये गये हैं

- १-आज्ञा रुचि - प्रवचन आदि में श्रद्धा का होना।
- २-निसर्ग रुचि - सत्य में श्रद्धा का होना।
- ३-सूत्र रुचि - सूत्र पढ़ने से उसमें श्रद्धा का उत्पन्न होना।
- ४-अवगाढ़ रुचि - विस्तारपूर्वक सत्य की उपलब्धि होना। +

ध्यान शतक में भी आगम, उपदेश, आज्ञा एवं स्वभाव से जिन भगवान के द्वारा बतलाये गये पदार्थों में श्रद्धा का होना ये धर्मध्यान के लिङ्ग कहे हैं। ☀

फल :-

धर्म ध्यान का प्रथम फल आत्मज्ञान ही होता है। जो मृत्यु अनेक तर्कों के करने पर भी नहीं जाना जा सकता वही सत्य ध्यान के द्वारा आसानी से जाना जा सकता है। धर्मध्यान के प्रधान फल विपुल शुभासुख, संवर, निर्जरा और देवसुख आदि कहे गये हैं। =

+ धम्मस्स ण ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा प० तं० आणारुईणिसग्ग रूई सुत्तरूई ओगाढरूईति (स्थानाङ्ग पृ० १८८)

☀ आगम-उवएसोऽऽणा-णिसंगओ जं जिणप्पणीयाणं।

भावाणं सद्दहणं धम्मज्ज्ञाणस्स तं लिङ्गं ॥ (ध्यानशतक ६७)

= होंति सुहासव-संवर-विणिज्जराऽमरसुहाइ विउलाइं।

ज्ञाणवरस्स फलाइं सुहाण्बंधीणि धम्मस्स ॥ (ध्यानशतक ६३)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन (१५२)

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि कर्मों के क्षीण होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है और कर्म आत्मज्ञान से क्षीण होता है, और आत्मज्ञान ध्यान से ही होता है। यही ध्यान का फल होता है। + जिस व्यक्ति को ध्यान अर्थात् धर्मध्यान की सिद्धि हो जाती है उसको कषायों से उत्पन्न होने वाले दुःख जैसे ईर्ष्या, विषाद, शोक हर्ष आदि नहीं होते हैं। उसको कोई भी शारीरिक एव मानसिक गोग नहीं होते और न ही वह उनसे पीड़ित होता है। ☀ धर्मध्यानी को अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस धर्मध्यान में कर्मों का क्षय करने वाले सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक अनुक्रम से असह्यात गुणा कर्म का समूह क्षय होता है — और साधक इन्द्र को जो सुख मिलता है उनसे कई गुना सुख प्राप्त करता है।*

—: ० :—

+ मोक्षः कर्मक्षयादेव, स चात्मज्ञानतो भवेत् ।

ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः ॥ (योगशास्त्र ४/११३)

☀ ध्यानशतक १०३

— असह्येयमसह्येयं सदृष्टयादिगुणेऽपि च ।

क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजात् मनुक्रमात् ।

शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत् ।

प्राप्नोति निर्गतातङ्कः स सौख्यं शमलक्षणम् ॥ (ज्ञानार्णव
(४१/१२-१३)

* देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनाम् ।

निर्विशान्तिं ततोऽनन्तं सौख्यं कल्पातिर्बर्तितः ॥ (ज्ञानार्णव ४१/१६)

सप्तम परिच्छेद

धर्मध्यान का वर्गीकरण

धर्म ध्यान के भेद :-

नय दृष्टि से ध्यान दो प्रकार का माना गया है + -१- सालम्बन व २-निरालम्बन । सालम्बन अर्थात् इसमें किसी वस्तु का आश्रय लिया जाता है । सालम्बन ध्यान भेदात्मक रूप में होता है और उसमें ध्यान और ध्येय को अलग-अलग माना गया है । आलम्बन के अनुसार धर्म ध्यान को चार प्रकार का माना गया है । ☀ आचार्य शुभचन्द्र जी महाराज ने भी धर्म ध्यान के चार भेदों का वर्णन किया है । = चित्त की एकाग्रता के साथ धर्मध्यान के चार प्रकारों का चिन्तन करना चाहिये । * तत्त्वार्थ सूत्र में भी धर्म ध्यान के निमित्त से चार ही प्रकारों का उल्लेख किया गया है । X

+ तत्त्वानुशासन ६६

☀ (क) आज्ञापाय विपाकानां, संस्थानस्य चिन्तनात् ।

इत्थं वा ध्येय भेदेन, धर्म्यं ध्यानं चतुर्विधम् ॥ योग-

शास्त्र १०/७)

(ख) भगवती आराधना, मूल, १७०८, १५३६

(ग) महापुराण २१/१३४

(घ) द्रव्यसंग्रह, टाका ४८/२०२/३

(ङ.) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका ४८०/३६६/४

= आज्ञापाय विपाकानां क्रमशः संस्थितैस्तथा ।

विचयो यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ (ज्ञानार्णव ३३/५)

* आज्ञाऽपायी विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च ।

यथागममविक्षिप्त-चेतसा चिन्तयेन्मुनिः ॥ (तत्त्वानुशासन ६८)

X आज्ञापाय विपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम् ॥ (तत्त्वार्थ सूत्र ६/३६)

जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन [१५४]

वे चार इस प्रकार हैं—१-आज्ञा विचय धर्म ध्यान, २-अपाय विचय धर्म ध्यान, ३-विपाक विचय धर्म ध्यान, ४-संस्थान विचय धर्म ध्यान । इनके अलावा अन्य अनेक ग्रन्थों में भी धर्मध्यान के चार भेदों को स्वीकारा गया है । + लेकिन इन सब से अलग अनेक ग्रन्थों में धर्म ध्यान के दस प्रकार देखने को मिलते हैं ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिन्होंने धर्म ध्यान के दस भेदों को स्वीकार करते हुए उनका वर्णन किया है। ☀ हरिवंश पुराण में धर्मध्यान के दस भेदों का उल्लेख किया गया है । वे दस भेद इस प्रकार हैं—१-अपाय विचय, २-उपाय विचय, ३-जीव विचय, ४-अजीव विचय, ५-विपाक विचय, ६-विराग विचय, ७-भव विचय, ८-संस्थान विचय, ९-आज्ञा विचय तथा १०-हेतु विचय ।—

+ [क] तदाज्ञापाय-संस्थान-विपाक विचयात्मकम् ।

चतुर्विकल्पमाप्नातं ध्यानमाप्नाय वेदिभिः ॥ (आर्ष २१/१३४)

[ख] तत्थ धम्मज्झाणं ज्जेय भेदेण चउव्विहं होदि-आणा विचओ अपाय विचओ विवागविचओ संठाणविचओ चेदि । (षट्खंडा-गमः, धवला टो., पृ० १३, पृ० ७०)

[ग] धम्मं ज्ञाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पणत्ता तं जहा-आणाविजये अवायविजये विवाग विजये संठाणविजये । (स्थानाङ्ग, पृ० १८८)

[घ] आदिपुराण २१/१३४

☀ [क] धर्मध्यानं दशविधम् । (शास्त्रसार समुच्चय ५६)

[ख] भावपाहुड़, टीका । १६/२०७/२

(ग) अपायविचयं ध्यानमुपायविचयं ततः जीवादिविचयध्यानमजीव-विचयाह्वयम् विपाकविचयं ध्यानं विराग विचयंमहत् । भावादि विचयं ध्यानं संस्थान-विचयाभिधम् तथाज्ञाविचयंहेतु विचया-ख्यमिति स्फुटम् ।

धर्मध्यानं महाधर्माकरं दशविधं महत् ॥ (मूलाचारप्रदीप ६/२०, ४३-४५)

— हरिवंशपुराण ५६/३८-५०

१-आज्ञा विचय धर्म ध्यान :-

‘आज्ञा का अभिप्राय है कि किसी विषय को भली प्रकार से जानकर उसका भली प्रकार से आचरण करना लेकिन ध्यान के अर्थ में इसका अभिप्राय जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा से है और “विचय” का अर्थ है— विचार या चिन्तन करना। इस प्रकार आज्ञा विचय का अर्थ ध्यान में सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रधान मानकर उसके द्वारा बताये गये पदार्थों का भली प्रकार से चिन्तन करना चाहिये, ऐसा किया गया है। Δ इस ध्यान में तीर्थकरों के द्वारा बतलाये गये उपदेशों का चिन्तन करते हुए साधक को उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए ऐसा सोचना चाहिए कि सर्वज्ञ की वाणी या उपदेशों में किसी भी प्रकार कोई त्रुटि नहीं होती और न ही उसके वचन कभी असत्य होते हैं उस पर पूरी तरह से विश्वास करना चाहिये। * मति की दुर्बलता होने से, अध्यात्म विद्या के जानकार आचार्यों का विरह होने से, ज्ञेय की गहनता होने से, ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म की तीव्रता होने आदि इस प्रकार से सर्वज्ञ प्रतिपादित मत सत्य है, ऐसा सोचना चाहिये। + क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग तीर्थकर देव वस्तु को भली प्रकार से प्रत्यक्ष में देखकर ही और जानकर ही उसका उपदेश देते हैं अतः वह हमारे हितकर ही होते हैं।....

Δ सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत् ।

यत्र तद्ध्यानमाप्नातमाज्ञारव्यं योगि पुङ्गवैः ॥ (ज्ञानाणव ३३/२२)

* आज्ञायत्र पुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधितम् ।

तत्त्वतश्चिन्तयदर्थान्स्तदाज्ञा-ध्यानमुच्यते ॥

सर्वज्ञवचनं सूक्ष्मं हन्यते यन्न हेतुभिः ।

तदाज्ञारूपमादेयं न मृषा भाषिणो जिनाः ॥ (योगशास्त्र १०/८-९)

+ षट्खण्डागम, धवला टी. पृ० १३, ५/४/२६/३५-३६

.... प्रमाणीकृत्य तीर्थेशान् सर्वज्ञान्दोषदूरगान् ।

तत्प्रणीतेषु सूक्ष्मेषु विश्वदृग्गोचरेषु च ॥

लोकालोकादितत्त्वेषु धर्मेषु मुक्ति वर्त्मसु ।

रुचिः श्रद्धा प्रतीतिर्या तदाज्ञाविचयंसताम् ॥ (मूलाचार प्रदोष

६/२०६२-६३)

(१५६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

उन वचनों एवं उपदेशों को जान सुनकर साधक उन शब्दों के अर्थों को भली प्रकार समझता है और फिर उन तत्वों का सहारा लेकर वह उनसे साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है एवं उसकी साधना करता है। इसी साधना को “आणाए तवो, आणाय संजमो” + कहा गया है। इसी प्रकार दूसरे सूत्र में उसे “आणाए मामथं धम्म” वाक्य के रूप में कहा गया है। ☀ ध्यानशतक में आज्ञा की विशेषता को दर्शाते हुए उसके लिए अतिशय निपुणा, अनादिनिधना, अनर्घ्या, अमिता, अजिता, महार्था आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है = उसी प्रकार आदिपुराण में भी उसे इसी प्रकार के विशेषणों से युक्त कहा है ... पाँच अस्तिकाय, छह जीविकाय, काल, द्रव्य तथा इसी प्रकार आज्ञा को ग्रहण करने वाले अन्य जितने भी पदार्थ हैं उनका आज्ञाविचय धर्म ध्यान के द्वारा साधक चिन्तन करता है × जिनेन्द्र भगवान जो उपदेश देते हैं या आज्ञा देते हैं उनका विषय अतिसूक्ष्म होता है उन्हें क्षायोपशमिक भावों के द्वारा जीव जान नहीं सकता अतः उसके लिए सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा ही प्रमाण रूप होती है। Δ

+ सम्बोधसत्तरि ३२

☀ आचाराङ्ग ३/२

= ध्यानशतक ४५-४६

... आदिपुराण २१/१३७-३८

× (क) पंचात्थिकायच्छज्जीवकाइए कालद्वमण्णे य।

आणागेज्जे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥

[षट्खण्डागम, धवला टी० १३/५/४/२६/३८]

(ख) महापुराण २१/१३५-१४०

(ग) भगवती आराधना, वि० टी० १७०६

Δ शास्त्रसार समुच्चय, पृ० २८८

ऐसी आज्ञा को ग्रहण करने वाले विषयों का जो विचार विवेक या चिन्तन है वही आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है ।☀

२-अपाय विचय धर्म ध्यान :-

“अपाय” का अर्थ है दोष अथवा दुर्गुण, जिनसे सांसारिक जीव परेशान होता है और राग द्वेष, क्रोधादि कषाय, मिथ्यात्वादि ये सब दोषों के अन्तर्गत आते हैं। माधक इन से छूटने का प्रयत्न करता है और चिन्तन करता है ऐसे चिन्तन करने को ही अपाय विचय धर्म ध्यान कहते हैं । → कर्मों के नाश का मुख्य साधन अप्रमत्त सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य की त्रिपुटी या रत्नत्रय ही हैं इस ध्यान में कर्मों के आस्रव को रोकने का चिन्तन किया जाता है । × जीव के जो शुभाशुभ भाव होते हैं, उनका चिन्तन करना भी अपायविचय धर्म ध्यान कहलाता है । ---

☀ सत्तका द्विविधो नयः शिवपथस्त्रेधा चतुर्धा गतिः ।

कायाः पंच षडंगिनां च निचयाः सा सप्तभगीति च ॥

अष्टौ सिद्धगुणाः पदार्थनवकं धर्मं दशांगं जितः ।

प्रहैकादश देश संयतादशाः सद्द्वादशांगं तपः ॥

सम्यक्प्रेक्षा चक्षुषा वीक्ष्यमाणो यद्यादृक्षं सर्ववेद्याच्चक्षे ।

तत्तादृक्षं चिन्तयन्वस्तु यायादाज्ञा धर्म्यं ध्यानमुद्रां मुनीन्द्रः ॥ (आत्म-प्रबोध ८६-९०)

→ (क) रागद्वेष-कसायाऽऽसवादिकरियासु वट्ट माणाणं ।

इह-परलोयावाओ ज्ञाङ्ज्जा व्रज्जपरिवज्जी ॥ (ध्यानशतक ५०)

(ख) षट्खण्डागम, धवला टी. १३/५/४/२६/३६-४०

× श्रीमत्सर्वज्ञ निर्दिष्टं मार्गं रत्नत्रयात्मकम् ।

अनासाद्य भवारण्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः ॥

मज्जनोन्मज्जनं शश्वद्भजन्ति भवसागरे ।

वराकाः प्राणिनोऽप्राप्य यानपात्रं जिनेश्वरम् ॥ (ज्ञानार्णव ३४/२-३)

.... (क) कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ।

विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य अमुभे य ॥

(भगवती आराधना, विजयोदया टी० १७०७)

(ख) मूलाचार प्रदीप ६/२०४६-४७

(ग) मूलाराधना ४००

(१५८) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

आदिपुराण में “अपाय” को अभाव कहा जाता है, मिथ्या-दृष्टियों के मार्ग के अभाव का विचार करने को अपायविचय धर्म ध्यान कहा है । + मन, वचन, काय इन तीनों की योग की प्रवृत्ति को संसार का कारण माना गया है । अतः इन प्रवृत्तियों से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है, इस प्रकार का विचार अपाय विचय ध्यान ही कहलाता है । * इस ध्यान में यह भी विचार किया जाता है कि मिथ्यात्व के वशीभूत होकर राग द्वेष में लिप्त हुए प्राणी जो दुख या कष्ट उठा रहे हैं और जन्म-मरण के भव में पड़े हुए हैं उनसे कैसे छुटकारा हो सकता है । — साधक इस ध्यान में सभी दोषों को जानता और समझता है और उनसे बचने का उपाय निरन्तर करता रहता है और नये कर्म किम उपाय से नहीं बंधेगे, ऐसे उपायों को करता रहता है और आत्मा की सिद्धि के लिए निश्चय कर लेता है । ... यही अपायविचय धर्म ध्यान कहलाता है ।

+ आज्ञाविचय एवं स्यादपायविचयः पुनः ।

तापत्रयादि जन्माब्धिगतापार्या विचिन्तनम् ॥

तदपाय प्रतीकार चित्रोपायानुचिन्तनम् ।

अत्रैवान्तगति ध्येयमनुप्रेक्षादि लक्षणम् ॥ (आदिपुराण २१/१४१-४२)

* संसारहेतवः प्रायस्त्रियोगानां प्रवृत्तयः ।

अपायोयर्जनं तासां स मे स्यात्कथमित्यलम् ॥

चिन्ताप्रबन्ध संबन्धः शुभलेश्यानु रञ्जितः ।

अपायविचयाख्यं तत्प्रथमं धर्म्यमभीप्सितम् ॥ (हरिवंशपुराण ५६/३६-४०)

— (क) रागद्वेषकषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत् ।

यत्रपायांस्तदपाय-विचय-ध्यानमिष्यते ॥ (योगशास्त्र १०/१०)

.... (क) कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी उन्मार्गतो जनाः ।

अपायमिति या चिन्ता तदपायविचारणम् ॥ (तत्त्वार्थसार ४१)

(ख) इत्युपायो विनिश्चेयो मार्गाच्चयनलक्षणः ।

कर्मणां च तथापाय उपायश्चात्मसिद्धये ॥ (ज्ञानार्णव ३४/१६)

(ग) चारित्रमार १७३/३

(घ) मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्येभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽप्येयुरिति

स्मृतिसमन्वाहारोऽपाय विचयः । [सर्वार्थसिद्धि ६/३६/४४६/११]

३-विपाकविचय धर्म ध्यान :-

“विपाक” का अभिप्राय कर्म फल से है । कर्म फल शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं और इन कर्म फल के चिन्तन को विपाक विचय कहते हैं । + इस ध्यान में साधक विचार करता है कि कर्म ही उदय में आने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय पाकर ज्ञान दर्शन को परिष्कृत करके शुभ और अशुभ फल देते हैं । ☀ कर्मों की इस विचित्रता पर विचार करके उसके क्षण प्रति क्षण उदय होने की प्रक्रिया पर चिन्तन करना विपाक विचय धर्म ध्यान कहलाता है । — कर्मों के शुभ अशुभ फल का एवं उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्ष का विचार करना भी विपाक विचय धर्म ध्यान है । ... षट्खण्डागम में शुभ अशुभ को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश से चार भेद वाला बताते हुए उनके चिन्तन को विपाक विचय धर्म ध्यान बतलाया है । △

+ पयइ-ठिइ-पएसा ऽणुभाव भिन्नं सुहासुहविहत्त ।

जोगाणु भावजणियं कम्मविवागं विचित्तेज्जा ॥ (ध्यानशतक ५१)

☀ (क) द्रव्यादि प्रत्ययं कर्मफलानुभवनं प्रति ।

भवति प्राणिधान यद् विपाक विचयस्तु सः ॥ [तत्त्वार्थ-सार ४२)

(ख) कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम् ।

आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिक चतुष्टयम् ॥ (ज्ञानार्णव ३५/२)

— आदिपुराण २१/१४३-१४६, ज्ञानार्णव ३५/१

... एयाण्येय भवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं ।

उदओदीरण संक्रमबंधे मोक्खं च विचिणादि ॥

(भगवती आराधना, विजयोदया टी०, १७०६)

△ पयडिट्ठिदिप्पदेसाणु भागभिण्णं सुहासुहविहत्तं ।

जोगाणुभागजणियं कम्मविवागं विचित्तेज्जो ॥ (षट्खण्डागम, ध.टी.

१३/५/४/२६/४१)

(१६०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अष्ट कर्म का उदय और फलोदय किस प्रकार से होता है और जीव का उस निमित्त से किस-किस प्रकार विपरिणमन होता है, उदय में आकर दुःखों और सुखों को कर्म किस प्रकार से देते हैं इत्यादि कर्मों की विविध अवस्थाओं का विचार करना भी विपाक विचय धर्म ध्यान होता है । ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के प्रकृति स्थिति, प्रदेश और अनुभाग रूप चार बन्धों का भी विचार करना विपाक विचय ध्यान कहलाता है ।+ गुड़, खांड, मिश्री को शुभ कर्मों का और नीम, विष और हलाहल आदि को अशुभ कर्मों का विपाक या फल कहा गया है ☀ ध्यान योगी साधक इन दोनों कर्मों के विपाक को भली प्रकार जानकर कर्मों के बन्ध से छुटकारा पाने का प्रयास करता रहता है । विपाकों को ध्येय बनाकर वह अपने स्वभाव को उनसे अलग समझने की चेष्टा या साधना करता है । इस ध्यान से साधक का चित्त शान्त एवं निर्मल होता है और वह कर्मों का नाश करने की दिशा को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार से वह शुद्धाशय से स्वरूपोपलब्धि रूप ध्यान के फल को पा लेता है ।

+ (क) यच्चतुर्विधबन्धस्य कर्मणो इष्ट विधस्य तु ।

विपाक चिंतनं धर्म्यं विपाक विचयं विदुः ॥ (हरिवंशपुराण ५६/४५)

(ख) कमफलानु भवं विवेकं प्रति प्रणिधानं विपाक विचय । (तत्त्वार्थ राजवार्तिक ८)

(ग) चारित्रसार १७४/२

(घ) सर्वार्थसिद्धि ६/३६/४५०/२

(ङ) महापुराण २१/१४३-१४७

☀ (क) सत्पुण्यकृतीनां गुडखंडशर्करामृतैः ।

समोद्यकृतीनां च निम्बादिसदृशोशुभः ॥

विपाको बहुधादर्शश्चिन्त्यते यत्रमानसे ।

तद्विपाकजयायोच्चैविपाक विचयं हि तत् ॥ (मूलाचार प्रदीप ६/२०५४-५५)

(ख) शास्त्रसार समुच्चय, पृ० २८७)

४—संस्थान विचय धर्म ध्यान :-

“संस्थान” का अभिप्राय “आकार” से है। इस ध्यान में ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोक का चिन्तन किया जाता है। तीनों लोकों के संस्थान, प्रमाण और आयु आदि का चिन्तन करना ही संस्थान विचय धर्म ध्यान कहलाता है। ☀ अनादि काल से, अव्याहत रूप से जो अस्तित्व में है उस जगत् के ध्यान को करने का संस्थान-विचय धर्म ध्यान कहते हैं। = इस ध्यान में द्रव्यों के लक्षण, आकार, आसन, भेद, मान आदि का विचार किया जाता है और चूँकि यह जगत् उत्पाद, ध्रौव्य और भंग से युक्त है अतः उस पर भी विचार किया जाता है। △ पर्याय की दृष्टि के अनुसार पदार्थों का उत्पाद ओर व्यय होता ही रहता है, लेकिन अगर द्रव्य की दृष्टि से देखा जाये तो पदार्थ नित्य ही रहता है। भगवती आराधना में भेदों से युक्त तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान आकार के साथ ऊर्ध्व लोक, अधोलोक और मध्यलोक के चिन्तन को संस्थान विचय धर्म ध्यान कहा है। →

☀ [क] सुप्रतिष्ठितमाकाशमाकाशे वलयत्रयम् ।

संस्थानध्यानमित्यादि संस्थानविचयं स्थितम् (हरिवंश पुराण ५६/४८)

[ख] सर्वार्थसिद्धि ६/३६/४५०/३

[ग] तत्त्वार्थसार ७/४३

[घ] द्रव्यसंग्रह टीका ४८/२०३/२

[ङ.] राजवातिक ६/३६/१०/६३२/६

= अनाद्यनंतस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्यायात्मनः ।

आकृति चिन्तयेद्यत्र संस्थान विचयः स तु ॥ (योगशास्त्र १०/१४)

△ (क) जिणदेसियाइ लक्खण-संठाणाऽऽसण-विहाण-माणाइं ।

उप्पायट्ठिइभगाइ पज्जवा जे य दव्वाणं ॥ (ध्यानशतक ५२)

(ख) स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः ।

सम्पूर्णाऽनादिसंसिद्धः कर्तृव्यापार बजितः ॥ (ज्ञानार्णव ३६/२)

→ अहं तिरियउ इढलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे ।

एत्थे व अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥

(भगवती आराधना विजयोदया टी० १७०६)

(१६२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

संस्थान विचय धर्म ध्यान में इससे सम्बन्धित अनुप्रेक्षाओं के विचार करने को कहा गया है जबकि शास्त्रसार समुच्चय में अनित्यादि सभी बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन करने को संस्थान विचय धर्म ध्यान कहा है । + इसी तरह का वर्णन हमें अन्य स्थानों पर भी प्राप्त हुआ है । ☀ तीनों लोकों के संस्थान, प्रमाण और आयु आदि के चिन्तन को संस्थान विचय धर्म ध्यान कहते हैं ।— इस मत को अधिकतर सभी ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया है । इस ध्यान को करने से जीव या साधक की नित्य अनित्यादि पर्यायों का विचार करने से वैराग्य की भावना प्रशस्त एवं सुदृढ़ हो जाती है और वह इस ध्यान की परिधि में आ जाता है । इस ध्यान के लिए साधक को तीन लोकों का चिन्तन करने के लिए कहा गया है वे तीनों लोक निम्न प्रकार से इस तरह हैं—

+ (क) भगवती आराधना वि० टी० १७०६

(ख) शास्त्रसार समुच्चय, पृ० २८८

☀ (क) अनित्याद्या अनुप्रेक्षा द्वादशानन्तशर्मदाः ।
वैराग्यमातरो रागनाशिन्योमुक्तिमातकाः ॥
चिन्त्यते रागनाशाय यत्रवैराग्यवृद्धये ।
योगिभिर्योगसंसिद्धये संस्थानविचर्यहि तत् ॥ (मूलाचार प्रदीप
६/२०६०-६१)

(ख) ज्ञानोवरमे वि मुणी णिच्चमणिच्चादिचिन्तणापरमो ।

होइसुभावियचित्तो धम्मज्झाणे जिह व पुवं ॥

(षट्खण्डागम धवला टी. १३/५/४/२६/५०)

— जिणदेसियाइ लक्खण संठाणासणविहाणमाणाइं ।

उप्पाद-ट्ठिदिभंगादिपज्जया जेय दव्वाणं ॥

पंचत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहणं जिणक्खादं ।

णामादिभेयविहियं तिविहमहोलोगभागादि ॥

[षट्खण्डागम धवला टी. १३/५/४/२६/४३-४४)

लोक :-

इस अनन्त एवं असीम आकाश के मध्य का वह अनादि एवं अकृत्रिम अर्थात् प्राकृतिक भाग जिसमें कि जीव पुद्गल आदि छहों द्रव्य दिखाई देते हैं वही लोक कहलाता है। लोक आकाश की तुलना में न के बराबर है। उसके अर्थात् लोक के चारों तरफ का शेष अनन्त आकाश अलोक है। आकाश का यह हिस्सा जो लोक के अन्तर्गत आता है वह मनुष्याकार है और वह चारों ओर तीन प्रकार की वायु से वेष्टित है। इन तीनों पवनों में पहले तो यह लोक धनोदधि नामक वायु से बेढा गया है। ये तीनों वायु ही तीनों लोकों को धारण करके अपनी शक्ति से ही इस अनन्त आकाश में अपने शरीर को विस्तारपूर्वक स्थिर किये हुए हैं। + लोक के ऊपर से लेकर नीचे तक बीचों-बीच एक राजू प्रमाण विस्तार वाली त्रसनाली है। त्रस जीव इसके बाहर नहीं जा सकते लेकिन स्थावर जीव सभी जगह रहते हैं। राजवातिक में लोक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि जहाँ पुण्य और पाप का फल सुख-दुख देखा जाता है वही लोक है, यहाँ व्युत्पत्ति के अनुसार लोक का अर्थ आत्मा माना है। ☀ लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है। १-अधोलोक, २-मध्यलोक, ३-ऊर्ध्व लोक। — यद्यपि इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं परन्तु वर्तमान भूगोल में प्रत्यक्ष इन्द्रिय को आधार माना गया है।

+ घनाब्धिः प्रथमस्तेषां ततोऽन्यो घनमारुतः ।

तनुवातस्तृतीयोऽन्ते विज्ञेया वायवः क्रमात् ।

उद्धृत्य सकलं लोकं स्वशक्त्यैव व्यवस्थिताः ।

पर्यन्तरहिते व्योम्नि मरुतः प्रांशुविग्रहाः ॥ (ज्ञानार्णव ३६/५/६)

☀ राजवातिक ५/१२/१०-१३/४५५/२०

— (क) सयलो एस य लोओ णिप्पणो सेट्ठिदमाणेण ।

तिबियप्पो णादव्वो हेट्ठिममज्झिल्लउड्ढ भेएण ॥ (तिलोयप-
णत्ती १/१३६)

(ख) घवला १३/५/५/५०/२८८/४

(ग) बारस अणुवेक्खा ३६

(१६४) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

सभी मान्यताएं भिन्न-भिन्न होती हुए भी थोड़ी बहुत मिलती भी हैं। वर्तमान भूगोल के साथ इन बातों का अर्थात् पूर्व मतों का कोई मेल नहीं बैठता, परन्तु यदि विशेषज्ञ चाहें तो इस विषय की गहरा-इयों में पहुँचकर पूर्व आचार्यों के मतों को सत्यापित कर सकते हैं और सत्यता पर अमिट छाप लगा सकते हैं।

अधोलोक :

अधोलोक मेरुतल के नीचे के क्षेत्र को कहते हैं। यह लोक नीचे से वेत्रासन अर्थात् मोढ़े के आकार का है, यह नीचे से चौड़ा और फिर घटता-घटता मध्य लोक तक संकरा है। + यह लोक ७ राजू ऊँचा और सात राजू मोटा है और सात राजू नीचे व एक राजू प्रमाण चौड़ा ऊपर है। इसमें ऊपर से नीचे तक क्रम से रत्नप्रभा, शकराप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा व महातमप्रभा नाम से सात पृथिवियाँ लगभग एक राजू के अन्तराज से स्थित हैं।☀ प्रत्येक पृथ्वी में १३, ११ आदि पटल १००० योजन अन्तराज से स्थित है जिनमें कुल मिलाकर ४६ पटल हैं। प्रत्येक पटल में अनेकों गुफायें हैं, अनेको बिल हैं, इन बिलों में नारकीय जीव रहते हैं। नारकीय जीवों के रहने के लिए अतिदुख एवं कष्टों से युक्त सात नरक हैं जहाँ पापी जीव मरकर जन्म लेते हैं। इस लोक में अत्यन्त भयंकर निवास-स्थान नपुंसक जीवों के रहने के लिए हैं। इन नारकीय पृथ्वियों में से कुछ तो अत्यधिक उष्ण हैं, तो कुछ अत्यधिक शीतलता से युक्त हैं और अत्यन्त बर्फ से ढकी हुई हैं जो बहुत ही भयानक हैं। —

+ अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्जल्लरी निभः ।

मृदङ्गाभस्ततोप्यूर्ध्वं स त्रिधेति व्यवस्थितः ॥ (ज्ञानार्णव ३६/८)

☀ रत्नशर्करा पालुकापङ्क धूमतममहातमः प्रभाः ।

भूमियो घनाम्बु पाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ (तत्त्वार्थ सूत्र ३/१)

नारका नित्याशुभतरलेद्यापरिणाम देहवेदना विक्रियाः । (वही ३/३)

— ज्ञानार्णव ३६/११

इस लोक में रौद्रध्यानी, मिथ्यात्व एवं अविरति से युक्त एवं कृष्ण लेश्या से युक्त प्राणी ही जाते हैं जो हुंडक संस्थान वाले होते हैं । + यहाँ कोई न तो किसी का स्वामी होता और न ही मित्र और न ही कोई सम्बन्धी होता है ॐ

मध्य लोक :-

यह लोक अधोलोक के ऊपर झालर के समान गोलाकार रूप में स्थित मध्यभाग वाला है, इस लोक में असंख्य द्वीप समुद्र गोल-गोल कड़ों के समान स्थित है । यह लोक तनुवातबलय के अन्त भाग तक स्थित है । मेरु पर्वत द्वारा ऊपर तथा नीचे इस मध्य लोक की अवधि निश्चित है और मेरु पर्वत एक लाख योजन तक फैला हुआ है । — इस मध्य लोक में जम्बू द्वीप आदि द्वीप व लवण समुद्रादिक समुद्र हैं ।* सब ही द्वीप समुद्र असंख्यात एवं समवृत्त हैं । यह लोक चित्रा पृथ्वी के ऊपर बहुमध्य भाग में एक राजू लम्बे और एक राजू चौड़े क्षेत्र के अन्दर एक-एक को चारों ओर से घेरे द्वीप व समुद्र के रूप में स्थित है ।

+ ज्ञानार्णव ३६/१५

ॐ वही ३६/६८

... (क) मध्यभागस्ततो मध्ये तत्रास्ते झल्लरीनिभः ।

यत्र द्वीप समुद्राणां व्यवस्था बलयाकृतिः ॥ (वही ३६/८२)

(ख) द्विद्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वं परिक्षेपिणो बलयाकृतयः । (तत्त्वार्थ-सूत्र ३/८)

— तन्मध्ये मेरुनाभिवृत्तो योजनशतसहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः । (तत्त्वार्थसूत्र ३/६)

* (क) जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयोऽर्णवाः ।

स्वयम्भूरमणान्तास्ते प्रत्येकं द्वीपसागराः ॥ [ज्ञानार्णव ३६/८३]

(ख) जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः । (तत्त्वार्थ-सूत्र ३/७)

(ग) मूलाचार १०७७

(घ) राजवार्तिक ३/३८/७/२०८/१७

(१६६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

इस लोक के सभी समुद्र चित्रा पृथ्वी को खण्डित करके वज्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित हैं और सभी द्वीप चित्रा पृथ्वी के ऊपर हैं। + इस लोक में सात क्षेत्र भारतवर्ष, हेमवत वर्ष, हरिवर्ष, विदेह वर्ष, रम्यक वर्ष, हैराण्यवत वर्ष और ऐरावत वर्ष नाम से हैं और हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी नाम के छह पर्वत हैं। ☀ इस लोक के केवल अढ़ाई द्वीपों में ही मनुष्य रहते हैं और उसी अढ़ाई द्वीपों में अनेक खण्ड हैं जिनमें कुछ खण्डों में आर्य पुरुषों के रहने से उनका नाम आयखण्ड और कुछ खण्डों में म्लेच्छ लोगों के रहने से म्लेच्छ खण्ड नाम से उन्हें पुकारा जाता है। आर्य पुरुषों का आचरण उत्तम होता है और वे लोग उत्तम गुणों से युक्त होते हैं जबकि म्लेच्छ लोग निकृष्ट आचरण वाले एव निकृष्टतर गुणों वाले होते हैं।—

ऊर्ध्व लोक :-

मध्य लोक के समाप्त होने पर सुमेरू पर्वत की चोटी से नाममात्र के अन्तर से ऊर्ध्व लोक को सीमा प्रारम्भ हो जाती है। यह लोक सात राजू प्रमाण १००४०० योजन तक फैला हुआ है। इस लोक को दो भागों में विभक्त किया गया है, शिखर से २१ योजन ४२५ धनुष तक तो स्वर्ग लोक है और उसके ऊपर सिद्ध लोक है। इस लोक में देवों के विमान रहते हैं वे चर और स्थिर भेद से दो प्रकार के हैं। चर विमान वे होते हैं, जो निरन्तर घूमते रहते हैं और कई विमान जो स्थिर होते हैं वे स्थिर विमान कहलाते हैं।=

+ चित्तोवरि बहुमज्जे रज्जू परिमाण दीह विक्खंभे ।

चेट्ठंतिदीवल्लवहीएवकेवकं वेद्विऊण हूट परिदो ॥ (तिलोयपण्णत्तं ५/९)

☀ भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि । (तत्त्वार्थ-सूत्र ३/१०-११)

— तत्रार्यम्लेच्छखण्डानि भूरिभेदानि तेष्वमी ।

आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति तत्क्षेत्रजनितैर्गुणैः ॥ (ज्ञानाणं व ३६/८६)

= ततो नभसि तिष्ठन्ति विमानानि दिवोकसाम् ।

चरस्थिर विक्कमानि ज्योतिष्काणां यथाक्रमम् ॥ (ज्ञानाणं व ३६/८८)

स्वर्ग लोक में कल्प और कल्पातीत नामक दो पटल हैं । इन्द्र व सामानिक आदि १० कल्पनाओं से युक्त देव कल्पवासी कहलाते हैं कल्पनाओं से रहित अहमिन्द्र कल्पातीत विमानवासी कहलाते हैं । इस लोक में दो स्वर्ग के ऊपर दो स्वर्ग, फिर उन दो स्वर्ग के ऊपर फिर दो स्वर्ग, इस प्रकार से दो-दो के आठ युगल हैं और उनके ऊपर एक-एक विमान करके नौ विमान हैं । + जो ग्रंथेवक विमान कहलाते हैं । स्वर्ग लोक में रात्रि और दिन का कोई प्रावधान नहीं है वहां तो रत्नों से ही हमेशा प्रकाश रहता है । वहाँ उत्पात, भय, संताप, चोर आदि जीव स्वप्न में भी नहीं दीखते । ☀ स्वर्ग लोक में हर प्रकार का ऐश्वर्य एवं वैभव है वहाँ सभी प्रकार के भोग विलास के साधन मौजूद हैं वहाँ पर कोई भी दीन दुखी नहीं है बल्कि सभी पुष्ट एवं दिव्य शरीर वाले देव हैं । स्वर्ग लोक के ऊपर जो सिद्ध लोक है वहाँ अहमिन्द्र नाम वाले देव रहते हैं। ये देव काम से रहित होते हैं इन देवों का शुभ ध्यान हमेशा बढ़ता रहता है ये देव शुबल लेश्या से युक्त होते हैं । —

संस्थान विचय धर्म ध्यान में लोकों का चिन्तन किया जाता है इसलिए यहाँ हमने लोकों का संक्षिप्त रूप से वर्णन करना उप-युक्त समझा ।

आगमों के उत्तरवर्ती साहित्य में ध्यान के चतुष्टय का दूसरा वर्गीकरण भी प्राप्त होता है । किसी भी साधक का ध्यान एका-एक निरालम्ब वस्तु में नहीं लग सकता, इसलिए स्थूल एवं इन्द्रियगोचर पदार्थों से सूक्ष्म इन्द्रियों के अगोचर पदार्थों का

+ उपर्युपरि देवेशनिवास युगलं क्रमात् ।

अच्युतन्त ततोऽप्यूर्ध्वमेकैक त्रिदशास्पदम् ॥ (वही ३६/६०)

☀ उत्पातभयसन्ताप भङ्ग्य चौरारिविद्धराः ।

न हि स्वप्नेऽपि दृश्यन्ते क्षुद्रसत्त्वाश्च दुर्जनाः ॥ [वही ३६/६३]

— अहमिन्द्राभिधानास्ते प्रवीचारविवर्जिताः ।

विवर्द्धितशुभध्यानाः शुक्ललेश्याबलम्बिनः ॥ [ज्ञानार्णव ३६/१७६]

[१६८] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

चिन्तन करना आवश्यक माना गया है । ☀ आलम्बन का पर्याय "ध्येय" माना जाता है । इसी ध्येय को चार भेदों वाला कहा गया है—१-पिण्डस्थ, २-पदस्थ, ३-रूपस्थ और ४-रूपातीत । = इन भेदों के सम्बन्ध में कुछ मतभेद पाये जाते हैं क्योंकि इस वर्गीकरण का वर्णन प्राचीन साहित्य, जैसे मूलाचार, भगवती आराधना, तत्त्वार्थ-सूत्र, स्थानाड.ग. हरिवंशपुराण और आदिपुराण आदि ग्रन्थों में नहीं किया गया है, फिर इनका स्रोत कहाँ से है, यह बात अभी तक पता नहीं चली फिर भी देवसेन विरचित सम्भवतः वि० १०वीं शती में लिखित भावसंग्रह में यह सबसे पहले उल्लिखित है इससे पूर्व के किसी भी ग्रन्थ में इस वर्गीकरण का उल्लेख नहीं मिलता है ।... ज्ञानसार में एवं योगसार में भी इसका वर्णन मिलता है । लेकिन ज्ञानसार में रूपातीत का निर्देश नहीं किया है । वहाँ केवल पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ का ही वर्णन किया गया है । × ध्यान में चूँकि ध्याता के शरीर में स्थित ही ध्येय के अर्थ का विचार किया जाता है, इसलिए बहुत से आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं ऐसा विचार तत्वानुशासन में प्रगट किया गया है । * ज्ञानार्णव में भी इन चारों भेदों का वर्णन किया गया है । △

☀ (क) स्थूले वा यदि वा सूक्ष्मे साकारे वा निराकृते ।

ध्यानं ध्यायेत स्थिरं चित्तं एक प्रत्यय संगते ॥ (योगप्रदीप १३६)

(ख) अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।

सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्वमञ्जसा ॥ (ज्ञानार्णव ३३/४)

= पिण्डस्थ च पदस्थं रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

चतुर्धा ध्येयमाप्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥ (योगशास्त्र ६८)

.... (क) ध्यानशतक, प्रस्तावना, पृ० १८

(ख) भावसंग्रह ६१६

× ज्ञानसार १८-२८

* ध्यातुः पिण्डे स्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।

ध्येयं पिण्डस्थमित्यं हरतएव च केचन ॥ (तत्वानुशासन १३४)

△ पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

चतुर्धा ध्याः माप्नातं भव्यराजीव भास्करैः ॥ [ज्ञानार्णव ३७/१]

धर्मध्यान का वर्गीकरण(१६६)

आचार्य वसुनन्दी ने भी इसी क्रम से पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत का उल्लेख किया है । + योगसार में केवल इनके नामों का उल्लेख किया है लेकिन विस्तार से वर्णन नहीं किया गया है । ☀ श्रावकाचार में आर्त्त आदि चारों भेदों का विवेचन करके, क्रम से फिर इस ध्यान के भेदों का वर्णन किया है वहाँ पदस्थ ध्यान को पिण्डस्थ से पहले रखा गया है । इसके अतिरिक्त कई अन्य ग्रन्थों में भी इन चारों ध्येय के भेदों का वर्णन मिलता है । — ये बात अलग है कि इनके क्रम में थोड़ी बहुत फेरबदल की गयी है । नत्र शास्त्र में पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत इन चारों भेदों का वर्णन किया गया है । — दोनों के अर्थ भेद को छोड़कर देखा जाये तो लगता है कि जैन साहित्य का वर्गीकरण तत्र शास्त्र से प्रभावित है ।

पिण्डस्थ ध्यान :—

“पिण्डस्थ स्वात्मचिन्तनम्” अर्थात् आत्म स्वरूप या निजात्मा का

+ श्रावकाचार ४५६

जो पिण्डस्थु पयत्थु बुह् रुवस्थु वि जिणउत्तु ।

रूवातीतु मुणेहि लहु जिमि परु होहि पवित्तु ॥ (योगसार ६८)

— (क) पदस्थमन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् ।

रूपस्थं सर्वचिद्रूप रूपातीतं निरुज्जनम् ॥ (द्रव्य संग्रह टी. ४८/२०५/३)

(ख) पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

चतुर्धा ध्यानमाप्नातं भव्यराजीव भास्करैः ॥ (शास्त्रसार समुच्चय ३५)

(ग) उक्तेव पुनर्देव सर्वं ध्यानं चतुर्विधम् ।

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ॥ (ध्यान-स्तव २४)

(घ) भावपाहुड् टीका ८६/२३६/१३

.... पिण्डं, पदं तथा रूपं, रूपातीतं चतुष्टयम् ।

यो वा सम्यग् विजानाति, स गुरुः परिकीर्तितः ॥

पिण्डं कुण्डलिनी-शक्तिः, पदं हंसः प्रकीर्तितः ।

रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं, रूपातीतं निरंजनम् ॥ (नवचक्रेश्वरतंत्र)

(१७०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

चिन्तन करना ही “पिण्डस्थ ध्यान है। Δ “पण्ड” अर्थात् शरीर और उस शरीर में रहने वाली आत्मा है। अतः पिण्ड सहित या शरीर सहित आत्मा का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है। भाष्य संग्रह में अपने शरीर में स्थित अच्छे गुण वाले आत्मप्रदेशों के समूह के चिन्तन करने को पिण्डस्थ ध्यान कहा गया है। * जबकि ज्ञान-सार में अपने नाभि के मध्य स्थित अरहन्त के स्वरूप के विचार करने को पिण्डस्थ ध्यान कहा गया है। + श्वेत किरणों से विस्फुरित होते हुए एवं अष्ट महाप्रतिहार्यों से परिवृत्त जो निजरूप है उसका ध्यान भी पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है। X

ज्ञानार्णव में इस ध्यान का विस्तृत वर्णन करते हुए आचार्य ने इस ध्यान के लिए पाँच धारणाओं का निर्देश दिया है जो इस प्रकार से हैं—१—पार्थिवी धारणा, २—आग्नेयी धारणा, ३—श्वसना धारणा, ४—वारुणी धारणा तथा ५—तत्स्वरूपवती धारणा।... योग-शास्त्र में भी इन्हीं पाँचों धारणाओं का वर्णन किया गया है।—>

Δ पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् । (द्रव्यसंग्रह टी. ४८/२०५)

* भावसंग्रह ६२२

+ निजनाभिकमलमध्ये परिस्थितं विस्फुरद्रवितेजः ।

ध्यायते अर्हद्रूपं ध्यानं तत् मन्यस्व पिण्डस्थं ॥

ध्यायते निजकरमध्ये भालतले हृदयकन्ददेशे ।

निजरूपं रवितेजः पिण्डस्थं मन्यस्व ध्यानमिदं ॥ (ज्ञानसार १६-२०)

X (क) पलुकिन कोडदोलुसहजं । बेलगुवशणिकान्तदेसेव विवाकृतितं-।

नोलगोलगे तोलगि बेलगुव । बेलगं निजमागि कंडोडदु पिण्डस्थं॥

(शास्त्रसार समुच्चय २०२)

(ख) सियकिरणवित्फुरतं अट्ठमहापाडिहेरपरियरियं ।

झाइज्जइ जं णिययं पिण्डस्थं जाण तं ज्ञाणं ॥ [वसुनन्दि-

श्रावकाचार ४५६)

... पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी ।

तत्स्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथा क्रमम् ॥ (ज्ञानार्णव ३७/३)

→ पार्थिवी स्याद्वाग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।

तत्स्व भूः पंचमी चेति पिण्डस्थे पंच धारणा ॥ (योगशास्त्र ७/६)

तत्त्वानुशासन में भी इन पाँच में से तीन धारणायें मिलती हैं वहाँ श्वसना, आग्नेयी और वाहणी के पर्याय रूप में क्रमशः मारुती, तेजसी और आप्या के नाम से उपलब्ध है । + ऐसा लगता है कि आचार्य शुभचन्द्र ने तत्त्वानुशासन से इन तीन धारणाओं को लेकर और उनमें पार्थिवी एवं तत्त्वरूपवती इन दो धारणाओं को मिलाकर उन्हें उसी क्रम में व्यवस्थित कर दिया ।

पार्थिवी धारणा :-

किसी भी आसन से बैठकर साधक पार्थिवी धारणा का चिन्तन करता है । वह मेरुदण्ड को सीधा करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को जमाकर ध्यान करता है कि मध्यलोक के बराबर निःशब्द, कल्लोल रहित तथा हार और वफ़ के समान सफेद समुद्र है उसमें जम्बूद्वीप के बराबर लाख योजन वाला तथा हजार पंखुड़ी वाला कमल है जो सोने के समान पीला है और उसके मध्य केसर है जो बहुत अधिक मात्रा में सुशोभित है । उन केसरों में स्फुरायमान करने वाली देदीप्यमान प्रभा से युक्त सुवर्णाचल के समान एक ऊँची कणिका है, उस कणिका पर चन्द्रमा के समान श्वेत रंग का एक ऊँचा सिंहासन है और उस आसन पर मेरी आत्मा विराजमान है । साथ ही साथ यह भी विचार करे कि मेरी आत्मा रागद्वेषादि से रहित है और समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ है । इन बड़ी चाँजों को ध्यान में लाने के बाद सूक्ष्म वस्तु में ध्यान केन्द्रित करने से समस्त चिन्ताओं पर रोक लग जाती है ।☀

आग्नेयी धारणा :-

पार्थिवी धारणा के पश्चात् साधक आग्नेयी धारणा की साधना

+ तत्राऽऽदौ पिण्डसिद्धयर्थं निर्मलीकरणाय च ।

मारुतीं तैजसीमाप्यां विदध्याद्धारणांक्रमात् । [तत्त्वानु-
शासन १८३]

☀ (क) ज्ञानार्णव ३७/४-६

(ख) योगशास्त्र ७/१०-१२

(ग) योगप्रदीप २०/४०५-८

(१७२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

करता है। इस धारणा में साधक ऐसा चिन्तवन करे कि मेरे नाभि मण्डल में सोलह पांखुड़ियों से सुशोभित एक मनोहर कमल है। + उस कमल की सोलह पांखुड़ियों में क्रम में "अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः" ये सोलह बीजाक्षर हैं तथा उस कमल की कर्णिका पर "हं" महामन्त्र लिखा हुआ या स्थापित है। ☀ इस महामन्त्र स्वरूप "हं" के रेफ से धीरे-धीरे धुआँ की शिखा निकल रही है उसके पश्चात् अग्नि के स्फुलिङ्ग निकल रहे हैं। ये पवित्रबद्ध चिनगारियाँ क्रमशः शनैः-शनैः अग्नि ज्वाला के रूप में परिणमित हो रही है और फिर वह अग्नि प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है और हृदयस्थ कमल को दग्ध कर देती है। —

जिस कर्म चक्र को रेफ की अग्नि जलाती है वह हृदयस्थ कमल अधोमुख वाला और आठ पत्रों का होता है। इसके आठों पत्रों पर क्रमशः ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय नामक आठ कर्म आत्मा को घेरे हुए हैं। इस कमल के आठों दलों को कुम्भक पवन के बल से खोलकर फैलाकर उक्त "हं" बीजाक्षर के रेफ से उत्पन्न हुई प्रबल अग्नि से भस्म किया जाता है। Δ

+ ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमल नाभिमण्डले ।

स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम् ॥ (ज्ञानार्णव ३७/१०)

☀ (क) नाभौषोडश विद्यात्तद्द्वयष्टासु दलमध्यगं ।

हकारं बिन्दुसंयुक्तं रेफाक्रान्तं प्रचिन्तयेत् ॥ (विद्यानुशासन ३/७८)

(ख) प्रतिपत्र समासीन स्वरमालाविराजितम् ।

कर्णिकायां महामन्त्रं त्रिस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥ (ज्ञानार्णव ३७/११)

— (क) योगशास्त्र ७/१३-१८

(ख) ज्ञानार्णव ३७/१३-१४

(ग) तत्त्वानुशासन १८४

Δ (क) हृद्यष्टकर्मनिर्माणं द्विचतुः पत्रमम्बुजं ।

मुकुलीभूतमात्मानमावृत्यावस्थितं स्मरेत् ॥

कुम्भकैः तदम्भोजपत्राणि विकचय्य च ।

निदंहेन्नाभिपंकेजं बीजबिन्दु-शिखाग्निना ॥ (विद्यानुशासन ३/७६-८०)

(ख) तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम् ।

दहत्येव महामन्त्र ध्यानोत्थप्रबलोऽनलः ॥ (ज्ञानार्णव ३७/१५)

धर्मध्यान का वर्गीकरण(१७३)

वह अग्नि मस्तक तक पहुँच जाती है और वहाँ से अग्नि की एक लकीर बाईं ओर नीचे और दूसरी दाईं ओर नीचे की तरफ उस साधक के आसन तक पहुँच जाती है तथा आसन के आधार पर चलकर दूसरे से मिल जाती है और इस प्रकार से एक त्रिकोण की आकृति बन जाती है। वह अग्निमण्डल "र र र र" ऐसे बीज अक्षरों से व्याप्त है तथा उसके अन्त में **卐** सांथिया चिन्ह है। + यह अग्नि धूम से रहित एवं अत्यधिक देदीप्यमान है और अपनी ज्वालाओं के समूह से नाभि में स्थित कमल और शरीर को भस्म करके जलाने योग्य पदार्थ के न रहने पर अपने आप शान्त हो जाती है। **☸** अर्थात् "अतृणे पतितो बह्नि स्वयमेव प्रशाम्यति।" अर्थात् जलाने योग्य समस्त कर्म राशि को भस्म कर अब स्वयं मात्र राख की ढेरी रह गई है। ऐसा चिन्तवन करना आग्नेयी धारणा है।

माहृती धारणा :-

आग्नेयी धारणा द्वारा शरीर और द्रव्यकर्म, भावकर्म की समूल राख ढेरी हो गई तो उसको भी किस प्रकार से अपने से पृथक् करे इसलिए साधक वायु धारणा का चिन्तवन करता है। वह विचारता है कि आकाश में एक प्रचण्ड वायु उठी है। — और वह इतनी वेगवान है कि मेरु पर्वत को भी कम्पित कर रही है और देवों की सेना के समूहों को चलायमान कर रही है एवं मेघों के समूह का विघटन करती हुई तेजी से बह रही है। उस जल ने सागर को भी क्षुभित कर दिया है, धीरे-धीरे वह वायु तीव्र गति से दसों दिशाओं में फैल रही है, पृथ्वी तल को विदीर्ण करके भीतर प्रवेश कर रही है और आग्नेयी धारणा द्वारा भस्म हुई राख को संचित करके अपने वेग से उड़ा कर ले जा रही है, यहाँ तक कि उसने क्षण मात्र में ही विशाल भस्म राशि

+ वह्नि बीजसमाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम् ।

ऊर्ध्वं वायुपुरोद्भूतं निर्धूम काञ्चनप्रभम् ॥ (ज्ञानार्णव ३७/१७)

☸ ज्ञानार्णव ३७/१८-१९

— विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम् ।

स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महाबलम् ॥ (वही ३७/२०)

(१७४) मैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

को उड़ा दिया / अब मात्र आत्मा ही रह जाती है और यह वायु धीरे-धीरे अपने आप शान्त हो जाती है यही चिन्तवन करना मास्ती धारणा है। +

वारुणी धारणा :-

मास्ती धारणा से साधक की भस्म-राख उड़ जाती है किन्तु छाया रह जाती है उसके लिए वह वारुणी धारणा का चिन्तन करता है। वह सोचता है कि आकाश काले-काले बादलों से आच्छादित है एवं चारों ओर घनघोर घटाएँ घिरी हुई हैं, बिजली चमक रही है एवं इन्द्र धनुष दिखाई दे रहा है बीच-बीच में होने वाली गजनाओं से दिशायें कम्पित हो रही हैं एवं उन बादलों से निकलने वाली जल की अमृत के समान स्वच्छ धाराओं से आकाश व्याप्त हो गया है। ये जल की धारायें हमारे ऊपर गिरती हैं और राख के ढेर की छाप को बिल्कुल धोकर स्वच्छ कर दिया है और मेरी आत्मा स्फटिक मणि के समान स्वच्छ एवं निर्मल हो गयी है ऐसा चिन्तवन करना ही वारुणी धारणा है।☀

तत्त्वरूपवती धारणा :-

इस धारणा में साधक ऐसा चिन्तन करता है कि मेरी आत्मा सप्त धातु से रहित है और पूर्ण चन्द्रमा के समान उज्ज्वल एवं निर्मल है। मेरी आत्मा सर्वज्ञ है। मेरी आत्मा अतिशय युक्त सिंहासन पर आरुढ़ है और इन्द्र, धरणेन्द्र, दानवेन्द्र, नरेन्द्र आदि से पूजित है। मेरे समस्त आठों कर्म नष्ट हो गये हैं और कर्म रहित मैं पुरुषाकार हूँ एवं ज्ञानमात्र ही मेरा शरीर है। ऐसा चिन्तवन करना ही तत्त्वरूपवती धारणा है।—

+ (क) योगशास्त्र ७/१६-२०

(ख) ज्ञानार्णव ३७/२१-२३

☀ (क) सुधाम्बुप्रभवः सान्द्रैर्बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलैः ।

वर्षन्तं तं स्मरेद्धीरः स्थूलस्थूलैर्निरुत्तरम् ॥ (ज्ञानार्णव ३७/२५)

(ख) योगशास्त्र ७/२१-२३

— सप्तधातु विनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रमलतिषम् ।

सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति संयमी ॥ (ज्ञानार्णव ३७/२८-३०)

योगशास्त्र ७/२३-२५

इस प्रकार पाँचों धारणाओं से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाले ध्याता को मंत्र, माया, शक्ति, जादू आदि से कोई नुकसान नहीं होता है। प्रथम धारणा से साधक अपने मन को स्थिर करता है, दूसरी से शरीर कर्म को नष्ट करता है, और तीसरी से शरीर के कर्मों के सम्बन्ध को भिन्न देखता है, चौथी धारणा से शेष कर्मों का नष्ट होना देखता है और पाँचवीं धारणा से शरीर एवं कर्म से रहित शुद्ध आत्मा को देखता है। इस प्रकार से वह इस ध्यान के अभ्यास से मन एवं चित्त को एकाग्र करके शूबल ध्यान में पहुँचने की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

पदस्थ ध्यान :-

“पदस्थ मन्त्रवाक्यस्थं” अर्थात् मन्त्र वाक्यों में जो स्थित है वह “पदस्थ ध्यान” है। + इस ध्यान का मुख्य आलम्बन “शब्द” है। इस ध्यान के द्वारा साधक अपने को एक ही केन्द्र बिन्दु पर केन्द्रित करते हुए मन को अन्य विषयों से पराभूत कर लेता है और केवल सूक्ष्म वस्तु का ही चिन्तन करता है। ज्ञानार्णव में कहा गया है कि “पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो अनुष्ठान या चिन्तन किया जाता है वह ‘पदस्थ ध्यान’ है। ☀ यही बात योगशास्त्र में भी कही गयी है। = एक अक्षर आदि को लेकर अनेक प्रकार के पंच परमेष्ठी वाचक पवित्र मन्त्र पदों का उच्चारण जिस ध्यान में किया जाता है वह “पदस्थ ध्यान” कहलाता है। ✨

+ (क) द्रव्यसंग्रह, टीका ४८/२०५

(ख) भावपाहृङ्ग, टीका, ८६/२३६

(ग) परमात्म प्रकाश, टीका, १/६/६

☀ पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभियं द्विधीयते ।

तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥ (ज्ञानार्णव ३८/१)

= योगशास्त्र ८/१

✨ (क) ज ज्ञाइज्जइ उच्चरिऊण परमेट्ठिमंतपथममलं ।

एयक्खरादि विविहं पयस्थ ज्ञाणं मुणेष्वं ॥

(वसुनन्दि श्रावकाचार ४६४)

(ख) गुणभद्र श्रावकाचार २३२

(१७६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

पदस्थ ध्यान करने वाला योगी सबसे पहले वर्ण मातृका का ध्यान करता है, क्योंकि वर्णमाला सब मन्त्रों की जननी होने के कारण "वर्ण मातृका" कहलाती है। अनादि सिद्धान्त में जो वर्णमातृका अर्थात् अकारादि स्वर और ककरादि व्यञ्जन से ही शब्दों की उत्पत्ति हुई है। ☀

पदस्थ ध्यान पाँच प्रकार से निष्पन्न किया जाता है :-

अक्षर ध्यान :- इसके अन्तर्गत नाभि-कमल, हृदय कमल और मुख कमल से शरीर के इन तीन भागों की परिकल्पना की जाती है। इसमें नाभि कमल में साधक यह चिन्तन करता है कि मेरे नाभि कमल में सोलह दल वाला एक कमल है, जिसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः' सोलह अक्षर लिखे हुए हैं। = वह इन वर्णों पर मन को टिकाता है, जिससे उसका चित्त एकाग्र हो जाता है और ज्ञान तन्तुओं के सक्रिय होने से बुद्धि कौशल जागृत होता है :

हृदय कमल में वह सोचता है कि हृदय स्थल पर चौबीस पाँखुड़ियों वाला एक कमल है, उस कमल के मध्य एक कर्णिका भी है, इन चौबीस दलों एवं कर्णिका पर क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, ये पच्चीस वर्ण लिखे हुए हैं। * इस ध्यान से प्रज्ञा शक्ति जागृत होती है।

मुख कमल में वह ध्यान करता है कि मुखमण्डल के ऊपर द पत्रों वाला एक कमल बना हुआ है जिसमें प्रत्येक पत्रपर य, र, ल, व, श, ष, स, ह...

☀ ध्यायेदनादिसिद्धान्त प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।

निःशेषशब्द विन्यासजन्मभूमिं जगन्नुत्ताम् ॥ (ज्ञानार्णव ३८/२)

= द्विगुणाष्ट दलाम्भोजे नाभि मण्डलवर्तिनि ।

अमन्तीं चिन्तयेद्दयानी प्रतिपत्र त्वरावलीम् ॥ (वही ३८/३)

* चतुर्विंशतिपत्राढ्य हृदि कञ्ज सकर्णिकम् ।

तत्र वर्णानिमान्ध्यायेत्संयमी पञ्चविंशतिम् ॥ (वही ३८/४)

.... ततो वदनराजीवे पत्राष्टकविभूषिते ।

परं वर्णाष्टकं ध्यायेत्सञ्चरन्तं प्रदक्षिणम् ॥ (वही ३८/५)

तत्त्वानुशासन १०५-१०६

ये आठ वर्ण अन्वित हैं। अपने-अपने मण्डलों में विद्यमान अकार से हकार तक के परम शक्ति सम्पन्न मन्त्रों का ध्यान करने से ये मन्त्र इह-लोक और परलोक में फल देने वाले होते हैं। + मन्त्रों के पदों का स्वामी एवं सभी तत्त्वों का नायक “अहं” माना गया है जिसके आदि में वाङ्मय अर्थात् वर्णमाला का पहला अक्षर “अ” मध्य में मध्याक्षर “र” और अन्त में अन्तिम अक्षर “ह” है। इस तरह जो सारे वाङ्मय को अपने में व्याप्त कर “अक्षर ब्रह्म” है वह “शब्द ब्रह्म” भी कहलाता है।☀ “अहं” इस परम ब्रह्म के वाचक अक्षर ब्रह्म में “अ” अक्षर साक्षात् अमृतमयमूर्ति के रूप में स्थित सुख का कर्ता है, स्फुरायमान रेफ (°) अक्षर अविकल रत्नत्रय-सम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की प्रतिमूर्ति है और “ह” अक्षर मोहसहित और पाप समूह के हंता का रूप धारण किये हुए है।—“अहं” यह बीजाक्षर अनाहत सहित मन्त्रराज कहलाता है।✽

+ अकरादि-हकारान्ताः मन्त्राः परमशक्तयः ।

स्वमण्डल-गताः ध्येया लोकद्वय फलप्रदाः ॥ (तत्त्वानुशासन १०७)

अकारादि-हकारान्ता वर्णा मन्त्राः प्रकीर्तिताः।

सर्वज्ञैरसहाया वा संयुक्ता वा परस्परम् ॥ (विद्यानुशासन २-३)

☀ (क) आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति ।

हृदि ज्योतिष्मद्दृग्गच्छन्नामध्वेयं तदर्हताम् ॥ (तत्त्वानुशासन १०१)

(ख) अहमित्यक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः ।

सिद्ध चक्रस्य सदबीजं सर्वतः प्रणमाम्यहम् ॥ (वही पृ. १००)

— अकरादि-हकारान्त-रेफमध्यान्तबिन्दुकं ।

ध्यायन् परमिदं बीजं मुक्त्यर्थं नाऽवसीदति ॥ (आर्ष २१/२३१)

✽ अथमन्त्रपदाधीशं सर्वतत्त्वैकनायकम् ।

आदि मध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जनसम्भवम् ॥

ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सपरं बिन्दुलाञ्छितम् ।

अनाहत युतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते ॥ (ज्ञानार्णव ३८/७-८)

[ख] उर्बिन्दाकारहरोर्ध्वरेफ बिन्द्वानवाक्षरम् ।

मालाधःस्यन्दि पीयूष बिन्दुं विदुरनाहतम् ॥ [तत्त्वानुशासन १०८]

(ग) अनाहत का आकार-इसमें १-उर्कार, २-अनुस्वार, ३-ईकार, ४-ऊर्ध्वरेफकार, ५-हकार, ६-हकार, ७-निम्न स्कार, ८-अनुस्वार, ९-ईकार । ये नौ अक्षर मिले हैं ।

(ज्ञानार्णव पृ. ३८६, ३६९)

[१७८] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

यह मन्त्रराज सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्तमूर्ति के धारक साक्षात् श्री जिनेन्द्र भगवान के समान ही है। ☀ इस ध्यान में ध्याता यह कल्पना करता है कि एक सोने का कमल है और उसके मध्य में कर्णिका पर विराजमान, निष्कलंक, निर्मल चन्द्रमा की किरणों के समान, आकाशगामी एवं सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त "अर्ह" मन्त्र है, वह उसी मन्त्र का स्मरण करता है। इसके पश्चात् मुख कमल में प्रवेश करता हुआ, तालु छिद्र में गमन करता हुआ, अमृत से युक्त जल से झरता हुआ, नेत्रपलकों पर स्फुरित होता हुआ, केशों में स्थिति करता हुआ, ज्योतिष मण्डल में विचरता हुआ, उज्ज्वल चन्द्रमा के साथ स्पर्शा करता हुआ, आकाश में उछलता, कलंक के समूह को छेदता, संसार के भ्रम को दूर करता हुआ तथा मोक्ष के साथ मिलाप करते हुए सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त कुम्भक के द्वारा इस मन्त्रराज "अर्ह" का चिन्तन करना चाहिये। =

इस मन्त्रराज के ध्यान से ध्याता एकाग्रता को प्राप्त होकर चित्त को स्थिर कर लेता है और उसी समय ज्योतिर्मय जगत् को साक्षात् देख लेता है। इस मन्त्र से ध्याती अणिमादि सभी सिद्धियों को प्राप्त कर अलक्ष्य में अपने मन को स्थिर कर लेता है जिससे उसके अन्तरंग में इन्द्रियों से अगोचर ज्ञान प्रकट होता है। इसी को आत्मज्ञान कहते हैं। ×

ये सभी वर्ण एवं पद सर्वसाधारण के उपयोग में सदैव आते हैं परन्तु इनमें शक्ति और अतिशय लाना प्रयोक्ता, के भाव

☀ मन्त्रमूर्ति समादाय देवदेवः स्वयं जिनः ।

सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद्व्यवस्थितः ॥ (ज्ञानार्णव ३८/१२)

= (क) ज्ञानार्णव ३८/१६-१६

(ख) योगशास्त्र ८/१८-२२

× सिद्धयन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्या न संशयः ।

सेवां कुर्वन्ति दैत्याद्या आज्ञैश्वर्यं च जायते ॥

क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः ।

दधतोऽस्य स्फुरत्यन्तज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ॥ (ज्ञानार्णव ३८/२७-२८)

आदि पर निर्भर होता है। विशिष्ट ध्यान के द्वारा नियमपूर्वक एवं भली प्रकार से ध्यान करने पर अक्षर और पद प्रभावशाली, महत्वपूर्ण एवं रहस्यमयी होकर दिव्य ज्योति को प्रकट करते हैं इसीलिए ये मन्त्र कहलाते हैं। इन मन्त्रों का बार-बार उच्चारण करने से मन की चंचलता दूर होकर बिखरी शक्ति प्राप्त हो जाती है। इन मन्त्रों में बीजाक्षरों की शक्ति सूक्ष्म रूप से रहती है।

इस प्रकार मन्त्रराज और अनाहत दोनों मन्त्रों के ध्यान के पश्चात् प्रणव नामक ध्यान को ध्याने के लिए कहा गया है। प्रणव ध्यान में 'ॐ' पद का ध्यान किया जाता है। भारतीय संस्कृति में 'ॐ' का एक विशिष्ट स्थान है। सभी मोक्षवादी परम्पराये इसके महत्व को एकमत से मानती हैं। वैदिक परम्परा का तो ये प्राण ही है। प्रत्येक वैदिक मन्त्र में इसका होना जरूरी सा होता है, और तो और वैदिक ऋषि तो ब्रह्म को भी ऊँकारमय मानते हैं। उनके मतानुसार ॐ शब्द ब्रह्म है। यह सारा जगत् ॐमय ही है। वैदिक परम्परा के अनुसार ॐ शब्द 'अ' 'उ' 'म्' इन तीन अक्षरों के संयोग से सम्पन्न हुआ है। वहाँ 'अ' को ब्रह्मा, 'उ' को विष्णु तथा 'म्' को महेश कहा गया है तथा ये तीनों शक्तियाँ इससे जुड़ी हुई मानी हैं।

जैनाचार्यों ने ॐ को पंच परमेष्ठी वाचक माना है। उन्होंने अरहंत, अशीरी-सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और मुनि, इन पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम वर्ण लेकर सन्धि करने से 'ॐ' को निष्पन्न माना है अर्थात् अ+अ+आ+उ+म=अ+अ+आ=आ। आ+उ=ओ और ओ+म्=ओम् या ॐ ऐसा माना गया है।☀ कुछ जैनाचार्यों ने ॐ की निष्पत्ति इस प्रकार भी की है—'अ'—ज्ञान, 'उ'—दर्शन, 'म्'—चारित्र्य का प्रतीक है। इस प्रकार ये तीनों मिलकर अ+उ+म=ओम् या ॐ रूप बनता है।

☀ [क] अरहता-असरीरा-आयारिय-उवञ्जाय-मुणिणो ।

पंचक्खरनिप्पण्णो ओंकारो पंच परमिट्ठी ॥

[ख] हृत्पंकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम् ।

अ-स-आ-उ साऽक्षराणिध्येयानि परमेष्ठिनाम् ॥ [तत्त्वानु-शासन १०२)

(१८०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

इस ध्यान का साधक सबसे पहले हृदय कमल में स्थित कर्षिका में इस पद की स्थापना करता है, तथा देव व दैत्यों से पूजित एवं वचन विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यञ्जन से युक्त, पंचपरमेष्ठी के वाचक, मूर्धा में स्थित चन्द्रवला से झरने वाले अमृत के रस से आद्रित इस महातत्त्व, महाबीज, महामंत्र, महापदस्वरूप “ॐ” को कुम्भक करके ध्याता है ।☀ “ॐ” की साधना विभिन्न रंगों के साथ की जाती है। श्वेत वर्ण वाले ‘ॐ’ की साधना शान्ति, पुष्टि कर्मों को क्षय करने वाला एवं मोक्ष को देने वाली होती है। पीले रंग के ‘ॐ’ का जप ध्यान ज्ञान तन्तुओं को सक्रिय बनाने के लिए किया जाता है। वशीकरण के लिए लाल रंग के ॐ’ का ध्यान किया जाता है। नीले रंग की साधना साधक को शान्ति प्रदान करती है तथा श्याम वर्ण के ‘ॐ’ की साधना साधक को कष्टसहिष्णु बनाती है।— इस प्रणव ॐ का ध्यान सांसारिक वैभव एवं सुखों के साथ-साथ मोक्ष को भी देने वाला होता है।... ॐ की साधना का महत्त्व इसलिए भी अधिक माना गया है क्योंकि यह पंचपरमेष्ठी वाचक एक अक्षर का

☀ (क) ज्ञानार्णव ३८/३३-३५

(ख) तथाहृत्पद्ममध्यस्थं शब्द ब्रह्माकारणम् ।

स्वर व्यञ्जन-संवीतं वाचकं परमेष्ठिनः ॥

मूर्ध-संस्थित-शीतांशु कलामृतरस-प्लुतम् ।

कुम्भकेन महामन्त्रं प्रणवं परिचिन्तयेत् ॥ (योगशास्त्र ८/२६-३०)

— (क) सान्द्रसिद्धरवर्णाभिं यदि वा विद्रुमप्रभम् ।

चिन्त्यमानं जगत्सर्वं क्षोभयत्यभिसंगतम् ॥

जाम्बूनदनिभम् स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम् ।

ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कमं शातने ॥ (ज्ञानार्णव ३८/३६-३७)

(ख) पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम् ।

कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत् कर्मघाते शशिप्रभम् ॥ (योगशास्त्र ८/३१)

... ॐ कारं विन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।

कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥

मन्त्र है और इसे साधक किसी भी वक्त उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी भी अवस्था में जप सकता है।

पंचपरमेष्ठी नामक ध्यान में साधक चिन्तवन करता है कि मेरे हृदय में आठ पाँखुड़ियों से विभूषित एक कमल है। उस कमल की कर्णिका पर “णमो अरहंताणं” नामक सात अक्षरों का मन्त्र लिखा है, तत्पश्चात् उस कर्णिका के बाहर के आठ पत्रों में से चार दिशाओं के चार दलों पर क्रमशः ‘णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उव्वञ्जायाण, णमो लोए सव्वसहूण’ का ध्यान किया जाता है तथा चार बिदिशाओं पत्रों पर क्रमशः “एसो पंचणमुक्कारो सव्वपावप्प-णासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मगलम्” का चिन्तवन किया जाता है। ☀

आचार्य शुभचन्द्र ने पहले चार पदों पर तो णमों अरहंताणं आदि को ध्याने के लिए बताया है परन्तु अन्य चार विदिशाओं के चार पत्रों पर क्रमशः सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्-चारित्र्याय नमः, सम्यक्तपसे नमः, इन चार नमस्कार मन्त्रों के चिन्तवन करने को कहा है। इस प्रकार अष्टदल कमल और एक कर्णिका में नव मन्त्रों को स्थापित करके उनका ध्यान किया जाता है।— इस महामन्त्र का प्रभाव योगी मुनियों के लिए भी अगोचर एवं अनभिज्ञ होता है। + यही महामन्त्र सबका रक्षक माना गया है।

☀ अष्टपत्रे सिताम्भोजे कर्णिकायां कृतस्थितिम्।

आद्यं सप्ताक्षर मन्त्रं पवित्रं चिन्तयेत्ततः ॥

सिद्धादिक-चतुष्कं च दिक्पतेषु यथाक्रमम्।

चूलापाद-चतुष्कं च विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत् ॥ (योगशास्त्र ८/३३-३४)

— स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते।

कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ॥

दिग्श्लेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमत् ॥

सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥ (ज्ञानार्णव ३८/३६-४०)

+ प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम्।

अनभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्येऽनिलादितः ॥ (ज्ञानार्णव ३८/४२)

(१८२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

इन मन्त्रों को समझने के लिए उनके विषय में जानकारी का होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः इन मन्त्रों का यहाँ संक्षेप में वर्णन किया जाता है—

णमो अरिहंताणः :-

“णमो अरिहंताणं” पद में सात अक्षर हैं। इन मन्त्र के विषय में कहा गया है कि इसे गुरु के उपदेश से मुख के सात रन्ध्रों-छिद्रों में स्थापित करके उसी ध्याता को ध्याना चाहिये जो दूर से सुनने, दूर से देखने, दूर से सूँघने और दूर से रसास्वादन की शक्ति को प्राप्त करना चाहता हो। + सात छिद्रों में दो अक्षर कानों के छिद्रों में, दो अक्षर आँखों के छिद्रों में, नाक के दोनों नथुनों में दो अक्षर तथा एक अक्षर रसनालयका में स्थापित माना गया है। मगर कौन सा अक्षर कौन से छिद्र में स्थित है इसका प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है यह विषय अभी तक रहस्यमयी है। परन्तु रामसेनाचार्य ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रगट करते हुए यह कहा है कि जहाँ तक मुझे “इच्छन्-दूरश्रवादिकम्” पदों पर से यह आभास होता है कि सुनने की शक्ति के विकास को पहले कहा गया है, तब “आदि” शब्द से देखने, सूँघने एवं रसास्वाद की बात बाद में आती है, अतः कानों के रन्ध्रों में पहले दो अक्षर बाँये से दाँये की ओर अर्थात् बाँयी ओर “ण” और दाँये कर्ण में “मो” स्थापित होना चाहिये। नेत्र के रन्ध्रों में तृतीय एवं चतुर्थ अक्षर, नासिका के दोनों छिद्रों में पञ्च एवम् षष्ठम अक्षर तथा सातवें अक्षर “ण” की स्थापना रसना इन्द्रिय के रन्ध्रमार्ग में की जानी चाहिये ऐसा प्रतीत होता है लेकिन इन्होंने अपनी इस कल्पना को ठोस रूप से प्रगट नहीं किया है मात्र अपना विचार प्रगट किया है। * अगर इस मन्त्र को तत्त्व की दृष्टि से देखा जाये तो “ई” और “र” अग्नि बीज हैं, “अ” और “ता” वायु बीज हैं, “ह”, “णमो” और “ण” आकाश बीज हैं। अर्थात् इस पद में अग्नि, वायु और आकाश तीनों

+ सप्ताक्षर महामन्त्रं मुख-रन्ध्रेषु सप्तसु।

गुरुपदेशतो ध्यायेदिच्छन्-दूरश्रवादिकम् ॥ (तत्त्वानुशासन १०४)

* वही पृ० १०४

तत्त्व मौजूद हैं। अग्नि तत्त्व अशुभ कर्मों को निर्जरा करता है और वायु तत्त्व निजरा किये हुए कर्मों की राख को उड़ाकर साफ कर देता है और आकाश तत्त्व साधक के चारों ओर एक कवच का निर्माण करके उसकी शक्ति को बढ़ाता है जिससे सांसारिक विकार उसकी आत्मा, मन और शरीर में प्रवेश न कर सकें।

मन्त्रशास्त्रों में इस पद का रंग श्वेत बतलाया गया है और साधक को इसी रंग को ध्यान में रखकर इस पद का ध्यान करना चाहिये क्योंकि श्वेत रंग शान्ति, समता, शुभ्रता एवं सात्त्विकता आदि का प्रतीक माना गया है।

शाचार्य शुभचन्द्र ने भी इस सात अक्षर वाले “णमो अर-हंताण” पद का ध्यान करने के लिए कहा है कि जो प्राणी इस संसार रूपी अग्नि से दुखी हैं उन्हें इस पद का ध्यान करना चाहिये ।☀

णमो सिद्धाणं :-

मन्त्रशास्त्र की दृष्टि से ये बीजाक्षर है। तत्त्व की दृष्टि से “णमो” और “ण” आकाश तत्त्व, “स” और “द” जल तत्त्व, “ध” पृथ्वी तत्त्व और “इ” अग्नि तत्त्व माना गया है इस प्रकार से इस पद में पृथ्वी, अग्नि, जल और आकाश ये चारों तत्त्व मौजूद हैं। इस पद में दो नासिक्य अर्थात् अनुनासिक वर्ण भी हैं, मन्त्रशास्त्र में अनुनासिक वर्णों का बहुत अधिक महत्त्व माना गया है, क्योंकि इन वर्णों के उच्चारण के समय ध्वनि तरंगें सीधी ब्रह्मरंध्र तथा मस्तिष्क के ज्ञानवाही और क्रियाशील तन्तुओं से टकराती हैं जो अत्यधिक शक्ति को उत्पन्न करने वाले होते हैं। इस पद में “ण” एवं अनुस्वार (ँ) ये दोनों विशिष्ट शक्ति को उत्पन्न करते हैं। इस पद में ‘ध’ वर्ण धारण शक्ति को प्रबल करता है और ‘द’ दमन, दान आदि की ओर इशारा करता है। इस पद में जल तत्त्व होने के कारण यह शीतलता को प्रदान करता है। साधक को इस पद का ध्यान लाल रंग में करना चाहिए।

☀ यदि साक्षात्समुद्भवो जन्मदावोग्रसंक्रमात्।

तदा स्मरादिमन्त्रस्य प्राचीनं वर्णं सप्तकम् ॥ (ज्ञानार्णव ३८/८५)

(१८४) मंत्र परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

णमो आयरियाणं :-

इस पद के पाँच वर्ण अनुनासिक हैं। इसमें 'णमो' और 'ण' आकाश तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। 'आ' 'य' और 'या' वायु तत्त्व हैं तथा 'रि' अग्नि तत्त्व है। अर्थात् इस पद में वायु, आकाश एवं अग्नि तत्त्व मौजूद हैं। मंत्रशास्त्रों में इस पद का रंग पीला माना गया है, इसीलिए साधक को इसकी साधना पीले रंग में करनी चाहिये। पीला रंग ज्ञान-वाही तन्तुओं को और अधिक संवेदनशील करके शक्तिशाली बनाता है। इस पद में पाँच नासिक्य अर्थात् अनुनासिक स्वरों के होने से इसकी महत्ता अत्यधिक बढ़ जाती है। साधारण मन्त्रों की अपेक्षा ये मन्त्र जपने से साधक के मन मस्तिष्क में सहस्रगुनी ऊर्जा उत्पन्न होती है।

णमो उवज्झायाणं :-

इस पद में 'णमो' एवं 'ण' आकाश तत्त्व हैं तथा 'उ' और 'ज' पृथ्वी तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। जल तत्त्व 'व' एवं 'झा' है तथा 'य' वायु तत्त्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस पद में आकाश, पृथ्वी, जल एवं वायु तत्त्व के रूप में चार तत्त्व मौजूद हैं लेकिन शेष एक अग्नि तत्त्व मौजूद नहीं है इसीलिए यह पद साधक को अत्यधिक शीतलता प्रदान करने वाला है। इन चारों तत्त्वों के एक साथ मौजूद होने से इस पद का रंग आकाश की भाँति हल्का नीला माना गया है। साधक को इस रंग को ध्यान में रखकर ही इसकी साधना करनी चाहिये। यह पद साधक में क्षमाशीलता के भाव का विकास करता है

णमो लोए सव्वासाहणं :-

तत्त्व की दृष्टि से इस पद में 'णमो' 'हू' एवं 'णं' ये आकाश तत्त्व हैं, और 'लो' पृथ्वी तत्त्व है। वायु तत्त्व के अन्तर्गत 'ए' वर्ण आता है तथा जल तत्त्व 'स', 'व्व', 'सा' वर्ण हैं, अर्थात् इस पद में आकाश, वायु, जल एवं पृथ्वी ये चार तत्त्व आते हैं लेकिन आकाश तत्त्व की अधिकता है क्योंकि इसमें आकाश तत्त्व के चार वर्ण मौजूद हैं। इसलिए इस तत्त्व की अधिकता से एवं ज्यादा प्रभाव होने के कारण इस पद का रंग काला माना गया है क्योंकि आकाश का रंग भी गहरा नीला या काला माना

जाता है, किन्तु एक बात और गौर करने वाली है वह यह कि इस पद में पृथ्वी एवं जल तत्त्व भी काफी मात्रा में स्थित है इसलिए इस पद का वर्ण एकदम काला न मानकर कस्तूरी के समान माना गया है। यद्यपि साधारणतया लोक मान्यता के अनुसार श्याम रंग अप्रशस्त माना गया है किन्तु योग ध्यान की विधि में श्याम रंग को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। इस पद के ध्यान से साधक इन्द्रिय एवम् मनोविजेता बन जाता है जिससे उसकी प्राणधारा शुद्ध होती है और चेतना धारा का ऊर्ध्वारोहण होता है।

इस प्रकार इन नवकार मन्त्र की साधना से साधक अपने सभी कर्मों का क्षय करके, दिव्य शक्ति को विकसित करके एवं ज्ञान शक्ति का विकास करके, आचार शुद्धि करके एवं स्मरण शक्ति को प्रखर बनाकर, काम वासना आदि की इच्छा को समाप्त करके, अतीन्द्रिय ज्ञान एवं प्रतिभा को प्राप्त करता है एवं अमृत के तुल्य अनुपम रस का पान करता है। बृहद्द्रव्य संग्रह में इस मन्त्र को पैंतीस अक्षरों वाला मन्त्र पद माना गया है जिसे णमोकारमन्त्र, मूल मन्त्र तथा अपरा-जित मन्त्र भी कहा गया है।

इन मन्त्रों के अतिरिक्त और भी ऐसे कई मन्त्र हैं जिनका नित्य जप करने से साधक को शान्ति की प्राप्ति होती है एवं उसके कर्मों का क्षय होता है। + इन्हीं मन्त्रों में एक सोलह अक्षरों वाले एक मन्त्र को सोलह अक्षरी विद्या कहकर उसका ध्यान करने के लिए साधक से कहा गया है। वह सोलह अक्षरी विद्या यह है—
“अहत्सिद्धाचार्योपाध्यायसवं साधुभ्यो नमः।” इस विद्या को एकाग्रचित्त होकर दो सौ बार जाने से एक उपवास का फल मिलता है।  बृहद्द्रव्य-संग्रह में सोलह वर्ण वाला पद या मन्त्र दूसरा ही कहा गया है वहाँ

+ पण तीम सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह ज्ञाएह ।

परमेट्ठिवाचयाणं अण्ण चं गुरूवएसेण । (बृहद्द्रव्यसंग्रह ४६)

 स्मर पञ्चपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् ।

गुह्यञ्चक नामोत्थां षोडशाक्षरराजिताम् ॥ (ज्ञानाणव ३८/४८-४९)

(१८६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

“अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू” को सोलह अक्षरी मन्त्र कहा है । + ‘अरहन्त सिद्ध’ यह छह अक्षर वाला मन्त्र तीन सौ बार जपने से साधक एक उपवास के फल को प्राप्त करता है । ☀ चार अक्षर वाला मन्त्र ‘अरहन्त’ माना गया है जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप फल को देने वाला है । दो अक्षरों का मन्त्र है—‘सिद्ध’ जो समस्त क्लेशों का नाश करके मोक्ष को देने वाला है तथा एकाक्षरी मन्त्र ‘अ’ है जो पाँच सौ बार जपने से एक उपवास का फल देता है । — इसी प्रकार ‘ॐ ह्रां ह्रीं हूं ह्रीं ह्रः’ ‘अ सि आ उ सा नमः’ ये पाँच अक्षरी विद्या के निरन्तर अभ्यास से साधक मन को वश में करके संसार रूपी बन्धन को शीघ्र काट देता है एवं एकाग्र चित्त से मंगल, उत्तम पदों का जप करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है... साधक को मन्त्र पदों के स्वामी ‘अ सि आ उ सा’ को ज्योतिषमान् रूप में ध्याने के लिए कहा गया है । वे ‘अ’ को अरहन्त, ‘सि’ को सिद्ध, ‘आ’ को बाचार्य, ‘उ’ को उपाध्याय, ‘सा’ को साधु मानते हैं । * इनको ध्याने के लिए ‘अ’ अक्षर को नाभि कमल में, ‘सि’

+ वृहद्द्रव्यसंग्रह, पृ० २०३

☀ विद्यां षड्वर्गसम्भूतामजय्यां पुण्यशालिनीम् ।

जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥ (ज्ञानाणं व ३८/५०)

— (क) वही ३८/५२-५३

(ख) वृहद्द्रव्यसंग्रह, टी० ४६

... (क) पंचवर्णमयी पंचतत्त्वा विद्याद्धृता श्रुताम् ।

अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति ॥

मंगलोत्तम-शरण-पदान्यव्यग्र-मानसः ।

चतुश्रमाश्रमाण्येव स्मरन् मोक्षम् प्रपद्यते ॥ (योगशास्त्र ८/४१-४२)

(ख) पंचवर्णमयीं विद्यां पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम् ।

मुनिवीरैः श्रुतस्कन्धाजदबीबुद्ध्या समुद्धृताम् ॥ (ज्ञानाणं व ३८/५५-५७)

* हृत्पंकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम् ।

अ-सि-आ-उ-साऽक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ॥ (तत्त्वानशासन १०२)

को मस्तक कमल पर, 'आ' को कंठस्थ कमल में 'उ' को हृदय कमल पर एव 'सा' को मुखस्थ कमल पर ध्याने के लिये, ये स्थान निर्धारित किये गये हैं । +

ज्ञानार्णव में माया वर्ण 'ह्रीं' का भी चिन्तवन करने के लिए कहा गया है । यह माया वर्ण चन्द्रमा की कान्ति के समान है । इस मन्त्र को देव दैत्य आदि सभी पूजते हैं । इसको ध्याने से साधक श्रीमत्सर्वज्ञ देव का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है ।— एक अन्य विद्या 'क्षवी' का भी चिन्तवन करने का विधान है । इस विद्या को भाल प्रदेश पर स्थिर करके निश्चल मन से ध्यान करने पर साधक समस्त कल्याण के समूह को प्राप्त कर लेता है । X

इन मन्त्रों के अतिरिक्त और भी कई मन्त्र हैं । जिनके ध्यान से साधक मोक्ष पद को प्राप्त करता है । वे मन्त्र इस प्रकार से हैं— 'ॐ अहंत् सिद्ध सयोगकेवली स्वाहा ।', 'ॐ ह्रीं श्रीं अहं नमः ।', 'नमः सर्व सिद्धेभ्यः ।', 'ॐ जोगे मग्ने तच्चे भूदे भव्ने भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा ।', 'ॐ ह्रीं स्वहं नमो नमोऽर्हताणं ह्रीं नमः ।' एवं 'नमो नाणस्स', 'नमो दसणस्स', 'नमो चरित्तस्स', 'नमो तवस्स' । 'एसो पंच णमोक्कारो, 'सव्व पावप्पणासणो', 'मंगलाणं च सब्वेसिं', 'पढमं हवइ मंगलं' इत्यादि ।

+ स्मर मन्त्रपदाधीशं मुक्ति मार्गं प्रदीपकम् ।

नाभिपङ्कज संलीनमवर्णविश्वतोमुखम् ॥

सित्रर्णं मस्ताम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे ।

आकारं कण्ठकञ्जस्थं स्मरोकारं हृदिस्थितम् ॥

(ज्ञानार्णव ३८/१०८-१०९)

— प्रोद्यत्सपूर्णं चन्द्राभं चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः ।

समागच्छत्सुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥ (ज्ञानार्णव ३८/६७-८०)

X अविचलमनसा ध्यायंल्ललाटदेशे स्थितामिमां देवीम् ।

प्राप्नोति मुनिरजस्रं समस्तकल्याणनिकुरम्बम् ॥ (वहो ३८/८२)

विद्याक्षवां इति मालस्थां ध्यायेत्कल्याणकारकम् । (योगशास्त्र ८/५७)

(१८८) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

इस प्रकार पदस्थ ध्यान में चित्त को एकाग्र करने के लिए पदों अर्थात् मन्त्रों एवं बीजाक्षरों का सहारा लिया जाता है जो मुक्ति की कामना करने वाले हैं उनके लिए मन्त्र रूपी पदों का अभ्यास करने के लिए कहा गया है, इन मन्त्रों के अभ्यास से साधक के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है एवं उसके लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के साथ-साथ मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है । +

रूपस्थ ध्यान :-

‘रूप’ शब्द के अनेक अर्थ हैं, कहीं तो उसका तात्पर्य नेत्रों द्वारा ग्रहण किये गये गुण से है तो कहीं स्वभाव से है लेकिन ध्यान योग के सम्बन्ध में इसका अर्थ अलग ही निकाला गया है वहाँ ‘अन्तरङ्गशुद्धात्मानभूति की द्योतकनिर्ग्रन्थ एव निर्विकार साधुओं की बीतराग मुद्रा को रूप कहा गया है ।’ ☀ और रूपस्थ ध्यान अर्थात् रूपयुक्त तीर्थंकर आदि इष्टदेव का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है। इस ध्यान में साधक तीर्थंकर आदि के गुणों एवं आदर्शों को अपने समक्ष रखकर उनके स्वरूप का सहारा लेकर जो ध्यान करता है वही ध्यान रूपस्थ ध्यान कहलाता है । — इसमें योगी तीर्थंकर के नाम एवं उनके उज्ज्वल धवल प्रतिबिम्ब का ध्यान करता है । ... आकाश और स्फटिक मणि के समान स्वच्छ अपने शरीर की प्रभा रूपी जल निधि में लीन तथा जिनके चरण मनुष्य एवं देवों के मुकुट में लगी हुए मणियों से अनुरजित हैं एवं जो बाठ महाप्रतिहार्यों से घिरे हुए हैं ऐसे अरहन्त भगवान का ध्यान ही

+ ज्ञानार्णव ३८/११६

☀ अन्तरङ्गशुद्धात्मानभूति रूपकं निर्ग्रन्थं निर्विकारं रूपमुच्यते ।

(प्रवचनसार, ता. वृ. २०३/२७६/८)

— अर्हंतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते । (योगशास्त्र ६/७)

... तव नामाक्षरं शुभ्रं प्रतिबिम्बं च योगिनः ।

ध्यायतो भिन्नमीशेदं ध्यानं रूपस्थमीडितम् ॥ (ध्यान-

स्तव ३१)

धर्मध्यान का वर्गीकरण(१८६)

रूपस्थ ध्यान कहलाता है ।+ जिन अरहन्त देव से अनन्तज्ञान, दर्शन दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र इन नौ लब्धि रूपी लक्ष्मी की उत्पत्ति हुई है एवं जो सर्वज्ञ है, दाता हैं, सर्व हितैषी हैं, वर्धमान हैं, निरामय हैं, नित्य हैं, अव्यय हैं, अव्यक्त हैं, एवं पुरातन हैं, ऐसे तीर्थकर का स्मरण करके जो ध्यान साधक करता है वही ध्यान रूपस्थ ध्यान है । ☀ सर्वचिद्रूप का चिन्तन रूपस्थ ध्यान है । — इस ध्यान में वीतरागी का ही ध्यान करना चाहिये क्योंकि जब साधक वीतरागी का ध्यान करता है तो वह वीतरागी बन जाता है और रागी का चिन्तन करने से वह स्वयं भी रागी बन जाता है =, क्योंकि जिन-जिन भावों से वह जीव जुड़ता है वह उन्हीं भावों से तन्मयता को प्राप्त हो जाता है ।*

+ (क) वसुनन्दि श्रावकाचार ४७२-४७५

(ख) गुणभद्र श्रावकाचार २४२

(ग) ज्ञानार्णव ३६/१-८

(घ) शास्त्रसारसमुच्चय २०३

☀ नवकेवललब्धि श्री संभवं स्वात्मसंभवम् ।

तुर्यध्यान महावह्नौ हुतकर्मन्धनोत्करम् ॥

रत्नत्रयसुधास्यन्दमन्दीकृत भवश्रमम् ।

वीतसगं जितद्वैतं शिवं शान्तं सनातनम् ॥

अहन्तमजमव्यक्तं कामदं कामनाशकम् ।

पुराण पुरुषं देवं देव देवं जिनेश्वरम् ॥

ज्ञानार्णव ३६/२४-३१

— रूपस्थं सर्वचिद्रूपं । (बृहद्द्रव्यसंग्रह ४८/२०१)

= (क) वीतरागो विमुच्येत वीतरागं विचिन्तयन् ।

रागिणं तु समालम्ब्य रागी स्यात् क्षोभणादिकृत ॥ (योग-शास्त्र ६/१३)

(ख) एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः ।

तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥ (ज्ञानार्णव ३६/४३)

* येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।

तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ (योगशास्त्र ६/१४)

(१६०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

रूपस्थ ध्यान को करने वाला साधक सर्वज्ञ देव की आराधना करके जो संसार को दुर्लभ है ऐसे मोक्ष पद को प्राप्त होता है, वह सभी अवस्थाओं में उस परमेष्ठी को देखता है ।....

रूपातीत ध्यान :-

रूपातीत-रूप और अतीत मिलकर बना है। "रूप" का अर्थ है-मूर्तिमान पदार्थ सहित पुद्गल दृश्यमान पदार्थ और 'अतीत' का अर्थ है-रहित । अर्थात् शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दघन स्वरूप आत्मा-शुद्धात्मा । इस प्रकार का आत्मा जो द्रव्यकर्म, भाव कर्म और नौ कर्म से रहित हो ऐसे निरञ्जन स्वरूप का ध्यान रूपातीत ध्यान कहलाता है । Δ इस ध्यान में साधक चिदानन्दमय, शुद्ध, असूतं परमाक्षर आत्मा को आत्मा से ही ध्याता है । \times रूपातीत ध्यान परमात्मा का शुद्धरूप ध्यान है, इसमें मुनि अपनी आत्मा को ही परमात्मा समझ कर स्मरण करता है । ध्यानी सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान का अभ्यास करके शक्ति की अपेक्षा से अपने आपको भी उनके समान जानकर अपने आपको उनके ही समान व्यक्त रूप करने के लिए उनमें लीन होता है और

.... यमाराध्य शिवं प्राप्ता योगिनो जन्मनिस्पृहाः ।

यं स्मरन्त्यनिशंभव्याः शिवश्रीसगमोत्सुकाः ॥ (ज्ञानार्णव ३६/३३-३६)

Δ (क) "रूपातीतं निरञ्जनम् । (वृहद्द्रव्यसंग्रह ४८/२०१)

(ख) परमात्म प्रकाश १/६/६

(ग) गुणभद्रश्रावकाचार २४३

\times (क) चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं परमाक्षरम् ।

स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥ (ज्ञानार्णव ४०/१६)

(ख) वण्ण-रस-गन्ध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसणसरूवो ।

ज ज्ञाइज्जइ एव तं ज्ञाणं स्वरहियंति ॥ (वसुनन्दि श्रावका-
चार ४७६)

(ग) योगशास्त्र १०/१

(घ) रूपातीतं भवेत्तस्य यस्त्वां ध्यायति शुद्ध धीः ।

आत्मस्थं देहतो भिन्नं देहमात्रं चिदात्मकम् ॥ (ध्यानस्तव ३२)

अपने कर्मों का नाश करके व्यक्त रूप परमेष्ठी हो जाता है ।+ इस ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता हो जाती है और इसी एकता को समरसीभाव भी कहते हैं ।☀ यह ध्यान निरालम्ब ध्यान के अन्तर्गत आता है क्योंकि इसमें न तो किसी प्रकार का मन्त्र जप होता है और न ही किसी चीज का अवलम्बन । रूपातीत ध्यान का आलम्बन अमूर्त-आत्मा का चिदानन्दमय स्वरूप होता है, इसका साधक आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख आदि गुणों में अपनी चित्त वृत्ति को स्थिर कर लेता है । इस ध्यान को मानने का आधा नश्चय-नय है । पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ये तीनों ध्यान सालम्बन ध्यान के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि इन ध्यानों में आत्मा से भिन्न वस्तुओं-जैसे मन्त्र, जप आदि का आलम्बन लिया जाता है।

प्रारम्भ में साधक को सालम्बन ध्यान को रोकने के लिए कहा गया है क्योंकि इस ध्यान में एक स्थूल आलम्बन होता है जिससे साधक का मन एकाग्र होकर चिन्तन करता है। इससे ध्यान सुविधाजनक हो जाता है । जब साधक या मुनि इस ध्यान में परिपक्व हो जाते हैं, तब निरालम्बन ध्यान को ध्याने की योग्यता उसमें आ जाती है और वह इस निरालम्बन ध्यान अर्थात् रूपातीत ध्यान का चिन्तन कर सकता है । इसीलिए आचार्यों ने पहले सालम्बन ध्यान का अभ्यास करने के लिए कहा है और जब साधक इस ध्यान में सघ जाये तो उसे छोड़कर निरालम्बन ध्यान के अभ्यास को कहा है ।— क्योंकि स्थूल से सूक्ष्म, सविकल्प से निर्विकल्प और सालम्बन से निरालम्बन की ओर ही जाया जाता है, यह तो सर्व सम्मत है ।

+ (क) तद्गुणग्रामसंपूर्ण तस्त्वभावैकभावितः ।

कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥ (ज्ञानार्णव ४०/१६)

(ख) सहज सुख सहजबोधं । सहजात्मकवेनिप काष्के एंबीनलविं ।

सहजमेने नेलसिनिदी । वहलतेयिददविनाश रूपातीतं ॥

(शास्त्रसार समुच्चय २०४)

☀ योगशास्त्र १०/३-४

— (क) ज्ञानसार ३७

(ख) योगशास्त्र १०/५

[१६२] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

धर्म ध्यान के अन्य भेद :-

धर्म ध्यान के इन चार भेदों प्रभेदों के अलावा अन्य छः भेद और भी बतलाये गये हैं, लेकिन इन भेदों का वर्णन हर जगह नहीं मिलता है ऐसे कुछ ही ग्रन्थ हैं जिन्होंने इनका स्वरूप दर्शाया है। + वे अन्य भेद कुछ इस प्रकार से हैं-उपाय विचय, जीव विचय, अजीव विचय, विराग विचय, भव विचय, हेतु विचय।

उपाय विचय धर्म ध्यान :-

पुण्य रूप योग की प्रवृत्तियों को अपने आधीन करना उपाय कहलाता है और यह उपाय मेरे किस प्रकार से हो सकता है इस प्रकार के संकल्प को करके जो चिन्तन होता है, वह उपाय विचय धर्मध्यान कहलाता है। ☀ मोक्षार्थी पुरुष अपने मन-वचन-काय को शुद्ध करने के लिए चिन्तन करते हैं कि किस प्रकार से मेरे मन-वचन-काय शुभ हो जायेंगे और कैसे मेरे कर्मों का आश्रय रहेगा, ऐसा ध्यान करना ही उपाय विचय धर्मध्यान है। =

जीव विचय धर्मध्यान :-

यह जीव ज्ञान दर्शन उपयोग वाला है। द्रव्याधिक नय से जीव अनादि अनिघन है। अपने द्वारा सम्पादित शुभाशुभ कर्मों का फल वह स्वयं भोगता है एव अपने द्वारा प्राप्त सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर को

+ (क) हरिवंशपुराण ५६/३८-५०

(ख) शास्त्रसार समुच्चय ५६

☀ उपाय विचयं तासां पुण्यानामात्मसात्क्रिया ।

उपायः स कथं मे स्यादिति सवत्प सन्ततिः ॥ (हरिवंश पुराण ५६/४१)

= (क) मनोवाक्काययोगादि प्रशस्तं में भवेत्कथम् ।

कर्मास्रवविनिष्क्रान्तं ध्यानेनाध्ययनेन वा ॥

इत्युपायोऽत्र तच्छुद्ध्यै चिन्त्यते यो मुमुक्षुभिः ।

नानोपायैः श्रुताभ्यासरूपायविचयं हितम् ॥

(मूलाचार प्रदीप ६/२०४८-४९)

(ख) चारित्रसार १७३/३

वह स्वयं ही धारण करता है। संकोच बिस्तार तथा ऊर्ध्वगमन करने वाला भी स्वयं ही है इस प्रकार जीव की विविध दशाओं का ध्यान करना जीव विचय धर्म ध्यान कहलाता है। + यह जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, असंख्यात प्रदेशी है और कर्मों के अधीन होकर इस जन्म-मरण रूप संसार में निरन्तर आवागमन करता रहता है। ☀

अजीव विचय धर्मध्यान :-

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँचों अजीव द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना अजीव विचय धर्मध्यान है।— योगी लोग इन पाँचों अजीव द्रव्यों के स्वरूप के चिन्तन के साथ-साथ उनके उत्पाद व्यय ध्रौव्य गुणों के द्वारा चिन्तन करते हैं।=

विराग विचय धर्म ध्यान :-

यह शरीर अनित्य है, अशरण है, वात, पित्त, कफ से दोषमय है। रक्त, रस, मांस मेदा, हड्डी, मज्जा तथा वीर्य इन सात धातुओं से भरा हुआ है एवं मूत्रादि भिष्टा पदार्थों का घर है, इसके भोग किपाक फल के समान तत्काल सुन्दर तथा फल काल में भयानक

+ (क) अनादि निघना जीवा द्रव्यार्थादिन्यथान्यथा ।

असख्येय प्रदेशास्ते स्वोपयोगत्व लक्षणाः ॥

अचेतनोपकरणाः स्वकृतोचित्त भोगिनः ।

इत्यादि चेतना ध्यानं यज्जीव विचयं हित त् ॥ [हरिवंश-पुराण ५६/४२-४३]

☀ सूक्ष्मसंख्यप्रदेशोऽत्रपराधीनोऽनिशंभ्रमेत् । [मूलाचार प्रदीप ६/२०५१]

चारित्रसार १७३/५

— द्रव्याणाप्यजीवानां धर्माधर्मादिसंज्ञिनाम् ।

स्वभाव चिन्तनं धर्म्यमजीवविचयं मतम् ॥ (हरिवंशपुराण ५६/४४)

= धर्मा धर्मनभः कालपुद्गलानां जिनागमे ।

अचेतनमयानां च धर्मध्यानाय योगिनाम् ॥

अनेक गुण पर्यायैः स्वरूपचिन्तनं हृदि ।

ध्रौव्योत्पादव्ययैर्यत्तदजीवविचयं परम् ॥ (मूलाचार प्रदीप

६/२०५२-५३)

(१६४) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

विषैले हैं, अतः इनसे विरक्त बुद्धि होना परमावश्यक है । यह संसार भी अनंत दुःखों से भरा हुआ है और सुख से सर्वथा दूर है ऐसा विचार करना विराग विचय धर्मध्यान है ।*

भव विचय धर्म ध्यान :-

चारों गतियों में भ्रमण करने वाले इन जीवों को मरने के बाद जो पर्याय होती है वह भव कहलाता है यह भव दुःखरूप है इस प्रकार का चिन्तवन करना भव विचय धर्म ध्यान कहलाता है । × इस संसार में कर्मों के जाल में फँसे हुए प्राणी अपने कर्मों के उदय से अनेक प्रकार की योनियों में निरन्तर घूमते रहते हैं ऐसा चिन्तवन करना भव विचय धर्मध्यान है ।—सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के बिना यह जीव इस अनन्त संसार में भव धारण करता है ऐसा ध्यान करना भवविचय धर्म ध्यान है ।

हेतु विचय धर्म ध्यान :-

सूक्ष्म परमागम में यदि कहीं भेद प्रतीत हो तो उसे प्रमाण, नय,

* (क) शरीरमशुचिर्भोगा किपाकफल पाकिनः ।

विरागबुद्धिरित्यादि विरागविचयं स्मृतम् ॥ (हरिवंश पुराण ५६/४६)

(ख) चारित्रसार १७१/१

(ग) अनन्दुः खसम्पूणत्संसारोच्चसुखच्युतात् ।

विरक्तिः या सतां चित्ते विराग विचयं हि तत् ॥ (मूलाचार प्रदीप ६/२०५७)

× (क) प्रेत्यभावो भवोऽमीषां चतुर्गतिषु देहिनाम् ।

दुःखात्मेत्यादि चिन्ता तु भवादि विचयं पुनः ॥ (हरिवंश पुराण ५६/४७)

(ख) चारित्रसार १७६/१

... अनन्तदुखसंकीर्णं भवेनादौ सुखातिगे ।

सच्चित्ताचित्तमिश्रादिनानायोनिषुकर्मभिः ॥

भ्रमन्ति प्राणिनोऽन्तर्कर्मपाशवृता इति ।

भवभ्रमण दुःखानुचिन्तनध्यानसप्तमम् ॥ (मूलाचार प्रदीप ६/२०५८-५९)

निक्षेप, सुयुक्ति से दूर करना, स्वसमयभूषण पर समय दूषण रूप से चिन्तन करना हेतु विचय धर्म ध्यान कहलाता है। भगवान् सर्वज्ञ देव के कहे हुए पदार्थों को जो संसार भर में स्थापित कर देते हैं या उनके यथार्थ स्वरूप को अपने हृदय में स्थापित कर लेते हैं उनको हेतु विचय धर्मध्यान कहा गया है। △

धर्म ध्यान के गुणस्थान एवं स्वामी :-

धर्मध्यान के स्वामी के विषय में विद्वानों में परस्पर मतभेद रहा है जैसे तत्त्वार्थ सूत्र में अप्रमत्तसंयत, उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय से उसका सद्भाव प्रगट किया गया है → यहाँ “अप्रमत्तसंयत-स्य” से उसके केवल सातवें गुण स्थान को ही ग्रहण किया गया है, उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय शब्दों से ग्यारहवाँ एवं बारहवाँ ये दो गुणस्थान पता चलते हैं ऐसे में आठवें, नवें एवं दसवें गुणस्थानों में कौन सा ध्यान होता है यह स्पष्ट नहीं होता और यही बात ध्यान देने योग्य है। ध्यानशतक में भी लगभग ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है वहाँ पर भी अप्रमत्तसंयत से लेकर सूक्ष्म साम्पराय तक सभी साधक धर्मध्यानी कहे गये हैं लेकिन उपशान्तमोह और क्षीणमोह का अलग से वर्णन किया है। ३३

धवला में धर्म ध्यान के स्वामियों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। वहाँ धर्म ध्यान की प्रवृत्ति असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वसंयत, अनिवृत्तिसंयत, सूक्ष्मसाम्परायिक

△ (क) तर्कानुधारणः पुंसः स्याद्वादप्रक्रियाश्रयात्।

सन्मार्गाश्रयणध्यानं यद्धेतुविचयं हि तत् ॥ (हरिवंशपुराण
५६/५०)

(ख) सर्वज्ञोक्ताः पदार्थाद्याः स्थापयन्ते यत्र भूतले ।

यथातथ्येनचित्तेवा तद्धेतुविचयाभिधम् ॥ (मूलाचार प्रदीप
६/२०६५)

(ग) चारित्रसार २०२/३

→ तत्त्वार्थ सूत्र टीका ६/३८/४२२

ॐ स्ववप्पमायरहिया मुणओखीणोवसंतमोहा य ।

झायारो नाण-घणा धम्मज्जाणस्स णिदिदट्ठा ॥ (ध्यान शतक ६३)

(१९६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

क्षपकों व उपशमकों में होती है । +

आदिपुराण में धर्म ध्यान की स्थिति को आगम परम्परा के अनुसार सम्यग्दृष्टियों, संयतासंयतो और प्रमत्तसंयतो में स्वीकार करते हुए उसका परम प्रकर्ष अप्रमत्तो में माना गया है । ÷

बृहद्ब्रह्मसंग्रह टीका में धर्म ध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत इन चार के माना गया है । ☀

तत्त्वानुशासन में भी अप्रमत्त (सप्तमगुणस्थान) प्रमत्त, (षष्ठगुणस्थान), देशसंयमी (पंचम गुणस्थान) और सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थान) ऐसे धर्म ध्यान के स्वामी माने हैं लेकिन वहाँ मुख्य व गौण रूप से दो प्रकार का धर्म ध्यान मानकर सातवें गुणस्थानवर्ती को मुख्य धर्म ध्यानी व चौथे, पाँचवे, छठे स्थान वाला गौण धर्म ध्यानी माना गया है । —

अमितगतिश्रावकाचार में भी असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में ही धर्मध्यान का भाव माना गया है । =

+ असंजदसम्मादिट्ठ-संजदासंजद-पमत्तसजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्व-संजदअणियट्ठिसंजद-सुहुमसांपराइयखवगोवसामएसु धम्मज्जाणस्स प्रवृत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो ।

(धवला पृ० १३, पृ० ७४)

÷ आदिपुराण २१/१५५-१५६

☀ ...चतुर्भेद भिन्नं तारतम्यवृद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयता-प्रमत्ताभिधान चतुर्गुणस्थानवर्ति जीव सम्भवम् ।

(बृहद्ब्रह्मसंग्रह टी०, पृ० १९८)

— अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सदृष्टिर्देशसंयतः ।

धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थस्वामिनः स्मृताः ॥

मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानिमिह द्विधा ।

अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वोपचारिकम् ॥ (तत्त्वानुशासन ४६-४७)

= अनपेतस्य धर्मस्य धर्मतो दशभेदतः ।

चतुर्थः पंचमः षष्ठः सप्तमश्च प्रवर्तकः ॥ [अमितगति श्रावकाचार

[१५-१७]

धर्मध्यान का वर्गीकरण(१९७)

ध्यान स्तव मे भी लगभग आदिपुराण की तरह ही धर्मध्यान के स्वामी का वर्णन किया गया है । *

ज्ञानार्णव में मुख्य और उपचार के भेद से धर्म ध्यान के स्वामी अप्रमत्त और प्रमत्त मुनि कहे गये हैं ।...

हरिवंश पुराण में इस प्रसंग में केवल इतना ही कहा गया है कि प्रमाद के अभाव से उत्पन्न होने वाला वह अप्रमत्तगुणस्थान भूमिक है— अप्रमत्तगुणस्थान तक होता है । यहाँ यह नहीं कहा गया कि वह प्रथम से सातवें गुणस्थान तक होता है या केवल सातवें गुणस्थान तक ।×

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अधिकांश ग्रन्थकारों ने केवल उन्हीं शब्दों द्वारा ही वर्णन किया है जो पहले से प्रचलित थे, लेकिन स्पष्ट वर्णन नहीं किया ।

—: ० :—



* मुख्य धर्म्यं प्रमर्तादित्रये गौणं हि तत्प्रभो ।

धर्म्यमेवात्तिशुद्धं स्याच्छुक्लं श्रेष्ठ्योश्चतुर्विधम् ॥ (ध्यानस्तव १६)

.... मुख्योपचार भेदेन द्वौ मुनी स्वामिनो मता ।

अप्रमत्त-प्रमत्ताख्यौ धर्मस्येतौ यश्चावयम् ॥ (ज्ञानार्णव ३१)

× हरिवंशपुराण ५६/५१

अष्टम परिच्छेद

शुक्ल ध्यान

शुक्ल ध्यान का लक्षण :-

शुक्ल ध्यान, योग ध्यान की सर्वोत्तम दशा है। इस ध्यान में चित्त की एकाग्रता और निरोध पूरी तरह से सम्पन्न होता है। साधक जिस लक्ष्य को लेकर योग मार्ग की प्रवृत्ति को अपनाता है वह उस लक्ष्य को प्राप्त करके पूर्णता को प्राप्त होता है। शुक्ल ध्यान के लिए अभी तक पूरी तरह से सामग्री प्राप्त नहीं हो पाई है, अतः आधुनिक लोगों के लिए उसका ध्यान असम्भव सा है। लेकिन परम्परानुसार उसका उल्लेख करना भी जरूरी माना गया है क्योंकि आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार किसी भी व्यक्ति को परम्परा का विच्छेद नहीं करना चाहिए।+

“शुचं क्लमयतीति शुक्लम्” इस निरुक्ति के अनुसार जो ध्यान शोक आदि दोषों को दूर करने वाला है वह शुक्ल ध्यान है। ☀ आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था को शुक्ल ध्यान कहते हैं। जो निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है और ध्यान की धारणा से रहित है अर्थात् “मैं इसका ध्यान करूँ” इस इच्छा से रहित है, वह शुक्ल ध्यान है।— जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध है वह शुक्ल ध्यान है... जिस प्रकार से मैल के धुल जाने पर वस्त्र साफ हो जाता है उसी प्रकार निर्मल गुणों से युक्त आत्मा की परिणति भी शुक्ल है।* जहाँ गुण

+ योगशास्त्र ११/३-४

☀ शुचं क्लमयतीति शुक्लम्, शोकं क्लमयतीत्यर्थः। (ध्यानशतक, १, टी.)

— निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।

अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥ (ज्ञानार्णव ४२/४)

.... शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्। (सर्वार्थसिद्धि ६/२८/४४५/११)

* यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तद्गुणसाध-
र्म्यादात्मपरिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते ॥

(राजवार्तिक ६/२८/४/६२७/३१)

विशुद्ध होते हैं तथा कर्मों का क्षय और उपशम होते हैं वहाँ लेश्या भी शुक्ल होती है उसे ही शुक्ल ध्यान कहा गया है। × अपूर्वकरण आदि गुण स्थानों में जो उदासीन तत्त्वज्ञान होता है वह दोनों प्रकार के मल के नाश होने के कारण शुक्ल ध्यान कहलाता है। यह ध्यान माणिक्य शिखा की तरह निर्मल और निष्कम्प रहता है। ॥५॥ सम-वायांग के अनुसार श्रुत के आधार से मन की आत्यन्तिक स्थिरता एवं योग का निरोध शुक्ल ध्यान है। Δ जो शुचित्व अर्थात् शौच का अभिप्राय दोष आदि का अभाव हो जाना है। = कषायमल का अभाव होने से शुक्लपना प्राप्त होता है। + ध्यान-ध्येय-ध्याता और ध्यान का फल आदि के विविध विकल्पों से विमुक्त, अन्तर्मुखाकार, समस्त इन्द्रिय समूह के अगोचर निरंजन निज परमतत्त्व में अविचल

× जत्थगुणा सविसुद्धा उपसम-खमण च जत्थ कम्माण ।

लेसा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे ज्ञाणं ॥ (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल, ४८३)

॥५॥ तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु ।

शुभाऽशुभ-मलाऽपायद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥

शुचिगुण-योगाच्छुक्लं कषाय-रजसः क्षयादुयशमाद्वा ।

माणिक्य-शिखा-वदिदं मुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥ (तत्त्वानशासन २२१, २२२)

Δ समवायांग ४

= शुक्लं शुचित्वसम्बन्धाच्छौचं दोषाद्यपोढता । (हरिवंश पुराण ५६/५३)

+ (क) कुदो एदस्स सुक्कत्तं कसायमलाभावादो । (धवला १३/५, ४, २६/७७/६)

(ख) कषायमल विश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते ।

यतः पुं सामन्नस्तज्जैः शुक्लमुक्तं निरुत्तिकम् ॥ (ज्ञानार्णव ४२/६)

(ग) मलरहितात्मपरिणामोद्भवं शुक्लं । (भावपाहुड टो ७८/२२६/१८)

(२००) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

स्थिति रूप वह निश्चय शुक्ल ध्यान है । → भगवती आराधना में कहा गया है कि धर्म ध्यान में परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्ल ध्यान करने में समर्थ होता है क्योंकि जब तक वह पहली सीढ़ी (अर्थात् धर्म ध्यानी नहीं हो जाता) नहीं चढ़ पाता तब तक दूसरी सीढ़ी चढ़ना असम्भव है । +

शुक्ल ध्यान की मर्यादायें :-

जिस तरह से धर्मध्यान की बारह प्ररूपणायें की गई हैं उसी प्रकार से शुक्ल ध्यान की भी बारह अधिकारों वाली प्ररूपणा है । उनमें भावना, देश, काल और आसन विशेष इन चार अधिकारों में धर्म ध्यान से कोई भी भिन्नता नहीं है, इसलिए इन चार अधिकारों का यहाँ वणन नहीं किया जा रहा है । ☀ बाकी के अधिकार ये हैं-

आलम्बन :-

ध्यान के सन्दर्भ में आलम्बन साधक के लिए सहायक रूप में होते हैं, जिनका सहारा लेकर साधक आत्मिक प्रगति की सीढ़ी चढ़ता हुआ शिखर पर पहुँचता है । बिना आलम्बन के साधक लड़खड़ा सा जाता है इसलिए आलम्बन का सहारा लेता है । आलम्बन चार प्रकार के हैं

→ (क) ध्यान ध्येयध्यातृतत्फलादि विविध विकल्पनिर्मुक्तान्तमुखाकार-निखिलकरण ग्राम गोचर निरंजन निजपरमतत्वाविचलस्थिति रूप शुक्लध्यानम् ॥ (नियमसार, ता वृ० १२३)

(ख) स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षण शुक्ल ध्यानम् । प्रवचन-सार ता पृ० ८/१२)

+ इच्छेवमादिककतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।

सुक्कज्झाणं ज्ञायदि ततो सुविसुद्धलेस्साओ ॥

(भगवती आराधना १८७१)

☀ ध्यान शतक, वृत्ति ६८

.... [क] अह खंति-मद्दवज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।

आलंबणाइ जेहि सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥ (ध्यानशतक ६६)

(ख) भगवती शतक २५/७

(ग) सुक्कसंज्ञाणस्स चत्तारि आलंबणा पंत-खंती मुत्ती मद्दवे अज्जवे (स्थानाङ्ग, पृ० १८८)

-क्षमा, २-मार्दव, ३-आर्जव और ४-मुक्ति।

१-क्षमा :-शुक्ल ध्यानी साधक क्रोध विजेता होता है। क्रोध त्याग ही क्षमा है। कैसा भी क्रोध का प्रसंग आने पर शुक्लध्यानी के मानस में कभी भी क्रोध नहीं आता वह क्रोध कषाय पर विजय प्राप्त कर लेता है उसमें उत्तम क्षमा साकार हो जाती है।

२-मार्दव :-शुक्लध्यानी साधक मार्दव अर्थात् मान कषाय पर विजय प्राप्त कर लेता है। चाहे उसे कितना भी ज्ञान हो जाये लेकिन वह मान नहीं करता हमेशा मृदु व्यवहार रखता है।

३-आर्जव :-शुक्ल ध्यानी साधक का चित्त अत्यन्त सरल होता है वह माया रूप कषाय का पूरी तरह से त्याग कर देता है। माया संसार के भवों को जननी मानी गयी है।

४-मुक्ति :- शुक्ल ध्यानी साधक लोभी नहीं होता उसे किसी भी प्रकार का लोभ नहीं रहता वह पूरी तरह से इस कषाय से मुक्त रहता है।

क्रम :-

शुक्ल ध्यान करने वाला साधक क्रमशः महद् आलम्बन की ओर बढ़ता है। प्रारम्भ में उसके मन का आलम्बन सारा जगत् होता है। धीरे-धीरे अभ्यास को करते हुए वह एक सूक्ष्म वस्तु पर स्थिर हो जाता है और जब तक वह मोक्ष पाने की अवस्था में आता है तब तक उनके मन का कहीं भी अस्तित्व नहीं रह पाता। + ध्यान शतक में उसके आलम्बनों को दृष्टान्त से बतलाया गया है। जैसे सारे शरीर में फैले हुए विष को मंत्र के द्वारा डंक वाले स्थान में रोका जाता है और फिर उसे बाहर निकाल दिया जाता है उसी प्रकार से विश्व के सभी विषयों में फैले हुए मन को एक परमाणु में नरुद्ध किया जाता है और फिर उससे हटाकर आत्मस्थ किया जाता है। ☀ इसी बात को और भी दृष्टान्तों में कहा गया है जैसे लोहे

+ तिहुयण विसयं कमसो सखिविउ मणो अणुंमि छउमत्थो ।

झायइ सुनिप्पकपो ज्ञाणं अमणो जिणो होइ । (ध्यानशतक ७०)

☀ जह सव्वसरीरगयं मतेण विसं निरुंभए उंके ।

तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहाणयरमंतजोगेणं ॥

तह तिहुयण-तणुविसयं मणोविसं जोगमंत बलजुत्तो ।

परमाणमि निरुंभइ अवणेइ तओवि जिण-वेज्जो॥(ध्यानशतक ७१/७२)

(२०२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

के गर्भ बर्तन में डाला हुआ जल क्रमशः हीन हो जाता है उसी प्रकार से शुक्ल ध्यान का मन अप्रमाद से क्षीण हो जाता है ।=

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योगी का चित्त सूक्ष्म में निविशमान होता है, तब परमाणु स्थिर हो जाता है और जब स्थूल में स्थिर होता है तब परम महत् उसका विषय बन जाता है ।—

ध्येय :—

ध्येय का अर्थ है ध्यान का विषय । शुक्ल ध्यान के ध्येय एक द्रव्य के पर्याय हैं । शुक्ल ध्यान का विषय धर्म ध्यान की अपेक्षा अति सूक्ष्म है । शुक्ल ध्यान का ध्येय पृथक्त्व—वितर्क सविचार और एक—त्व—वितर्क अविचार इन दो रूपों में विभक्त है । इनमें पहला ध्येय भेदात्मक रूप है और दूसरा अभेदात्मक ।

ध्याता :—

शुक्ल ध्यान का ध्याता धर्म ध्यान के ध्याता के समान ही होता है । शुक्ल ध्याता अतिशय प्रशस्त संहनन, वज्रर्षभनाराच—संहनन से युक्त होते हुए श्रुतकेवली होते हैं। बाद के दो शुक्ल ध्याताओं का ध्याता सयोग केवली और अयोग केवली होता है ।....

अनुप्रेक्षा :—

शुक्ल ध्यान से चित्त के सुसंस्कृत हो जाने पर एवं ध्यान के समाप्त हो जाने पर चारित्र्य से युक्त जो ध्याता है, वह चार अनु-प्रेक्षाओं का चिन्तन करता है । X वे चार अनुप्रेक्षा इस प्रकार से हैं :—

= ध्यानशतक ७५

— पातञ्जल योगसूत्र १/४०

... एएच्चिय पुब्बाण पुब्बधरा सुप्पसत्थसंघयणा ।

दोण्ह सज्जीगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ॥ (ध्यानशतक ६४)

X सुक्कज्झाण सुभाविद्य चित्तो चित्तेइ ज्ञाणविरमेऽवि ।

णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥ (वही ६७)

१-आस्रवद्वारापाय :-

इस अनुप्रेक्षा में साधक अनंत भव परम्परा का चिन्तन करता है। वह मिथ्यात्व, अविरति और कर्मबन्ध के हेतु अर्थात् आस्रव द्वारा कौन-कौन से हैं और उनके सेवन करने से इस लोक में और परलोक में कौन-कौन से दुखों का जीव को सामना करना पड़ता है इस विषय का चिन्तन करता है।

२-संसारासुखानुभव :-

इसमें साधक संसार के अशुभ रूप का गहराई से विचार करता है। वह मोचता है प्राणी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति करता है और यह क्रम चलता ही रहता है और इसी शरीर ग्रहण करने व छोड़ने को संसार कहते हैं, जो नरकादि चतुर्गतिस्वरूप है इनमें से किसी में भी सुख नहीं है, क्योंकि अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेने पर सुख की प्राप्ति होती है लेकिन वह सुख थोड़े ही समय के लिए होता है। जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे किसी भी अवस्था के छूटने पर दुखी नहीं होते। इस प्रकार से संसार की असारता या दुःखरूपता का चिन्तन करना ही संसारासुखानुभव अनुप्रेक्षा है।

३-भवसन्तान की अनन्तता :-

संसार के आवागमन के कारण मिथ्यात्व, राग, द्वेष एवं मोह आदि माने गये हैं। इनमें भी मिथ्यात्व को प्रमुख कारण माना गया है क्योंकि जब तक जीव मिथ्यात्व दृष्टि वाला रहता है तब तक उसके लिए यह संसार अनन्त बना रहता है और जिज्ञाने मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त कर ली है वह प्राणी अनन्त संसारी नहीं रहता अपितु अधिक से अधिक अर्धपुद्गल प्रमाण संसार वाला हो जाता है। इस प्रकार का चिन्तन इस तीसरी अनुप्रेक्षा में किया जाता है।

४-वस्तु विपरिणामानुप्रेक्षा :-

इस अनुप्रेक्षा में साधक वस्तुओं के परिणमनशील स्वभाव अर्थात् वस्तुओं के परिवर्तन के स्वभाव पर चिन्तन करता है। वह विचार करता है कि सभी वस्तुयें प्रतिपल प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं,

[२०४] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। शुभ अशुभ में बदलती है और अशुभ शुभ में परिवर्तित होती रहती हैं। अतः सभी वस्तुएँ अहेयोपादेय हैं। इस अनुप्रेक्षा के चिन्तन करने से साधक की वस्तुओं की यहाँ तक कि अपने शरीर की भी आसवित छूट जाती है।*

इस प्रकार से ये चारों अनुप्रेक्षायें प्रथम दो शुक्ल ध्यानों से ही सम्बन्धित हैं अन्तिम दोनों शुक्ल ध्यानों में ये अनुप्रेक्षायें नहीं होतीं।

लेख्या :-

शुक्ल ध्यान के पहले दो भेदों में शुक्ल लेख्या होती है और तीसरे भेद अर्थात् सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ति शुक्ल ध्यान में परम शुक्ल होती है और चतुर्थ भेद समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति शुक्ल ध्यान लेख्या से अतीत अर्थात् रहित होता है। Δ क्योंकि यहाँ तो योग दशा में से आगे बढ़कर सर्वथा योगनिरोध अवस्था प्राप्त हो जाती है इसे 'शैलेशी' भी कहते हैं। 卐

शुक्लध्यान के लिङ्ग :-

लिङ्ग का अभिप्राय चिन्ह अथवा लक्षण से है। शुक्लध्यान में चित्त लगा हो ऐसे मुनि की पहचान के लिए चार लिङ्ग बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं-

१-अव्यथ, २-असम्मोह, ३-विवेक और ४-व्युत्सर्ग :->

१-अव्यथ :-

शुक्ल ध्यानी साधक मानव, देव, तिर्यच कृत उपसर्गों और सभी प्रकार के परीषहों को समभाव से सहने में सक्षम होता है। वह न तो

* आसवादारावाए तह संसारासुहाणु भावं च।

भव संताण मणन्तं वत्थूणं विपरिमाणं च॥ (ध्यानशतक ८८)

Δ सुक्काए लेसाए दो ततियं परमसुक्कलेस्साए।

थिरयाजियसेलेसि लेसाईयं परमसुक्कं ॥ (ध्यानशतक ८९)

卐 अवहाऽसम्मोह-विवेग-विउसग्गा तस्स होंति लिगाइं।

लिगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥ (वही ९०)

→ ध्यानशतक ९१

भयभीत होता है और न ही उनका प्रतिकार करता है और न ही अपने मन को विचलित करता है ।

२-असम्मोह :-

शुक्ल ध्यान के समय 'पूर्व' गत सूक्ष्म पदार्थ पर एकाग्रता होती है, तो वहाँ चाहे जितना गहन पदार्थ हो तब भी चित्त मोहित नहीं होता । उस साधक की श्रद्धा अचल होती है । देव, दानव, गन्धर्व, मानव, राक्षस कोई भी उसे उसकी श्रद्धा से नहीं डिगा सकता । +

३-विवेक :-

शुक्लध्यानी साधक अपनी आत्मा को देह से बिल्कुल भिन्न देखता है । उसका तत्त्व विषयक विवेक बहुत गहरा होता है वह जीव को जीव और अजीव को अजीव ही मानता है । आत्मा और शरीर की पृथक्ता का उसे पूर्ण विश्वास होता है ।

४-व्युत्सर्ग :-

शुक्लध्यानी सभी आसक्तियों से धिमुक्त होता है । वह शरीर तथा उपाधि से बिल्कुल निःसंग बनकर उसका सर्वथा त्याग करता है । उसमें भोगेच्छा और यशेच्छा किंचित् मात्र भी नहीं होती । वह निरन्तर अपने वीतराग भाव में निरत रहता है और उसे बढ़ाता जाता है । ☀

फल :-

जो धर्मध्यान का फल होता है वही उत्कृष्ट स्थिति में पहुँचकर शुक्ल ध्यान का फल बन जाता है । प्रारम्भ के दो शुक्ल ध्यान का फल धर्म ध्यान के फल के समान है इससे विपुल शुभाश्रव, संवर, निजंरा और दिव्य सुख निष्पन्न होते हैं । अन्तिम दो शुक्ल ध्यान तो केवलज्ञानी को होते हैं । अतः इससे तो सर्व कर्मक्षय होने के कारण फल के रूप में मोक्ष गमन होता है । =

+ देहविविसं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।

देहोवहि वोसगं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥ (वही ६२)

☀ ते य विस्सेणेण सुभासवाद ओण्णुत्तरामरसुहं च ।

दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाण परिल्लाणं ॥ (वही ६४)

(२०६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

शुक्ल ध्यान के भेद :-

साधक धर्म ध्यान का अभ्यास करते-करते शुक्ल ध्यान की अवस्था में पहुँचता है। धर्म ध्यान में उसके जो कर्म कषाय शेष रह जाते हैं वह शुकल ध्यान में नष्ट हो जाते हैं। शुक्ल ध्यान को परम समाधि की अवस्था भी कहा जाता है। इसके चार भेद बतलाये गये हैं जो कि शुक्ल ध्यान के चार चरण कहे जाते हैं इसके प्रत्येक चरण से गुजरता हुआ साधक ऊपर उठता है। वे चार इस प्रकार से हैं—१-पृथक्त्व वितर्क सविचार, २-एकत्व वितर्क विचार, ३-सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती तथा ४-व्युपरतक्रियानिर्वर्ति।+

हरिवंश पुराण में शुक्लध्यान दो प्रकार का माना गया है पहला शुकल और दूसरा परम शुक्ल। पृथक्त्व वितर्क विचार और एकत्व वितर्क अविचार। ये दोनों शुक्ल ध्यान के और सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती व व्युपरतक्रियानिर्वर्ति ये दो परम शुक्ल ध्यान के भेद कहे गये हैं।☀ योगशास्त्र में इसके चौथे भेद का नाम बदला हुआ है वहाँ व्युपरत क्रिया निर्वर्ति के स्थान पर उत्सन्न-क्रिया प्रतिपाति कहा गया है।—

+ (क) पृथक्त्वैकत्ववितर्कं सूक्ष्म क्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिर्वर्तीनि।

तत्त्वार्थ सूत्र ६/३६)

(ख) सवितर्कं सर्वाचारं सपृथक्त्वं च कीर्तितम्।

शुकलमाद्यं द्वितीयं तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥

सवितर्कमवीचारमेकत्व पदलाञ्छितम्।

कीर्तितं मुनिभिः शुक्लं द्वितीयमति निर्मलम् ॥

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति तृतीयं सार्थनामकम्।

समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमार्यैर्निवेदितम् ॥ ज्ञानाणं व

६, १०, ११)

(ग) द्रव्यसंग्रह, टी. ४८/१६६

☀ शुक्लं परमशुक्लं च प्रत्येकं ते द्विधा मते।

सविचार विवीचार पृथक्त्वैक्य वितर्कके।

सूक्ष्मोच्छिन्नक्रियापूर्वप्रतिपाति निवर्तके ॥ (हरिवंशपुराण ५६/५३-५४)

— ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमेक्य-श्रुताविचारं च।

सूक्ष्म-क्रियमुत्सन्न-क्रियामिति भेदैश्चतुर्धा-तत् ॥ (योगशास्त्र ११/५)

भगवती आराधना में भी चार भेद कहे गये हैं । + धवला में पृथक्त्व वितर्क वीचार, एकत्व वितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती और समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती से चार प्रकार कहे गये हैं । ☀ चारित्रसार में भी हरिवंश पुराण के समान ही वर्णन किया गया है वहाँ भी दो भेद व दोनों के प्रभेद रूप में चार भेद कहे गये हैं । = और भी कई ग्रन्थों में इसके चारों भेदों को स्वीकारा गया है ।...

+ ज्ञाणं पुधत्त सवितक्कसवीचारं ह्वे पढमसुक्कं ।

सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्ञाणं विदियसुक्कं ॥

सुहुमकिरियं तु तदियं सुक्कज्झाणं जिणंहि पणत्तं ।

वेति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरिय तु ॥

(भगवती आराधना, विजयोदया टी. १८७२-७३)

☀ तं च चउव्विहं-पुधत्तविदक्कवीचारं एयत्तविदक्कअवीचारं सुहुमं-किरियमप्पडिवादि समुच्छिण्णकिरियम प्पडिवादि चेदि ।

(षट्खण्डागम, धवला, टी० ५/४/२६/७७)

= शुक्लध्यानं द्विविधं शुक्लं परमशुक्लमिति ।

शुक्लं द्विविधं पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्व वितर्कवीचारमिति ।

परमशुक्लं द्विविधं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसमुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति भेदात् ।

(चारित्रसार २०३/४)

.... (क) उत्तराध्ययन ३०/३५

(ख) मूलाराधना ४०४-४०५

(ग) राजवार्तिक १/७/१४/४०

(घ) शुक्लपरमशुक्लं च शुक्लं ध्यानमिति द्विधा ।

सपृथक्त्ववितर्कादय वीचारं शुक्लमादिमम् ॥

तथक्त्ववितर्कवीचारं शुक्लं द्वितीयकम् ।

प्रतिपातविनिष्क्रान्तं शुक्लं सूक्ष्मक्रियाहृदयम् ॥

समुच्छिन्नक्रिय शुक्लद्विधेति परमम् स्मृतम् ॥ (मूलाचार प्रदीप २०७५-७७)

(ङ) सुक्के ज्ञाणे चउव्विहे चउच्चपडोआरे प० तं०-पुहुत्तवितक्के सवि-यारी १-एकत्तवितक्के अविचारी २-सुहुमकिरिये अणियट्ठी, ३ समुच्छिन्नकिरिये अप्पडिवाती ४ ।

(स्थानाङ्क ग, पृ० १८८)

(२०८) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

इसमें प्रथम दो शुक्ल ध्यान छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियों के लिए विहित है। उनमें श्रुतज्ञानपूर्वक पदार्थ का आलम्बन होता है और अन्त के दो शुक्ल ध्यान जो आलम्बन से रहित होते हैं, वे जिनेन्द्र देव को होते हैं। X

पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान :-

पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक ध्यान शुक्ल ध्यान का प्रथम चरण है। इस ध्यान में पृथक्-पृथक् रूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का वीचार अर्थात् श्रुतज्ञान बदलता रहता है इसलिए इसे सवितर्क सवीचार और सपृथक्त्व ध्यान कहा गया है। * यह ध्यान मन, काय और वचन इन तीन योगों वाले मुनियों के होता है। किसी एक वस्तु में उत्पाद, स्थिति और व्यय आदि पर्यायों का चिन्तन श्रुत का आधार लेकर करना भी पृथक्त्व वितर्कवीचार शुक्ल ध्यान होता है। ... अर्थ, व्यञ्जन और योगों के संक्रमण का नाम वीचार कहा गया है। Δ

X श्रुतज्ञानार्थ सम्बन्धाच्छ्रुतालम्बन पूर्वके।

पूर्व परे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनच्युते ॥ (ज्ञानार्णव ४२/८)

* (क) पृथक्त्वेन वितकस्य वीचारो यत्र विद्यते।

सवितर्क सवीचार सपृथक्त्वं तदिष्यते ॥ (ज्ञानार्णव ४२/१२)

(ख) दव्वाइ अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्ञायंति।

उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तंति तं भणिया ॥ (भगवती आराधना वि. टी १८७४)

... (क) उप्पाय-ट्ठिइ-भंगाइपज्जयाण जमेगवत्थुंमि।

नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेण (ध्यानगतक ७७-७८)

(ख) एकत्रपर्यायाणां-योगान्तरेषु संक्रमण-युक्तमाद्यं तत् ॥ (योगशास्त्र ११/६)

Δ (क) अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो।

तस्स य भावेण तयं खुत्ते उच्चं सवीचारं ॥ (भगवती आराधना, वि० टी० १८७६)

(ख) अध्यात्मसार ५/६४-६७

(ग) पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते।

अर्थव्यञ्जन योगानां वीचारः संक्रमः स्मृतः ॥ (ज्ञानार्णव ४२/१५)

इसमें साधक कभी तो अर्थ का चिन्तन करते—करते शब्द का चिन्तन करने लगता है और कभी शब्द का चिन्तन करते—करते अर्थ का । जिस पदार्थ का ध्यान किया जाता है वह अर्थ कहलाता है, उसके प्रतिपादक शब्द को व्यञ्जन कहते हैं और वचन आदि योग कहे गये हैं जिसमें वितर्क के अर्थ आदि में क्रम से अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं वही पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यान कहलाता है ।+ पृथक्त्व अर्थात् भेद रूप से श्रुत की संक्रान्ति जिस ध्यान में होती है वह पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक ध्यान है और भी अनेक जैन विद्वानों ने एक मत से इस शुक्ल ध्यान के भेद के स्वरूप को स्वीकार करते हुए अनेक ग्रन्थों में इसका वर्णन किया है ।— ध्वला में भी ज्ञानार्णव के समान पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यान का

+ पृथग्भावः पृथक्त्वं हि नानात्वमभिधीयते ।

वितर्को द्वादशाङ्गं तु श्रुतज्ञानमनाविलम् ।

अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमः क्रमात् ।

ध्येयोऽर्थो व्यञ्जनं शब्दो योगी वागादिलक्षणं ।

पृथक्त्वेन वितर्कस्य विचारोऽर्थादिषु क्रमात् ।

यस्मिन्नास्ति यथोक्तं तत्प्रथमं शुक्लमिष्यते ॥ (हरिवंश पुराण

५६/५७-५८)

☀ तत्त्वार्थसूत्र ६/४१-४४

— (क) महापुराण २१/१७०-७३

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६/४४/४५६/१

(ग) राजवार्तिक ६/४४/१/६३४/२५

(घ) कसायपाहुड, १,१/१७/३१२/३३४/६

(ङ) मूलाचार प्रदीप ६/२०८०-८१

(च) द्रव्यसंग्रह टी० ४८/२०३

(छ) चारित्रसार २०४/१

(२१०) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वर्णन किया गया है ।+

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन, वचन एवं काय रूप योग में कभी मनोयोग से काययोग या वचनयोग में, वचन योग से काययोग या मनोयोग में, काय योग से मनोयोग या वचनयोग में संक्रमण होता रहता है । अतः अर्थ शब्द-योग की दृष्टि से संक्रमण होने पर भी ध्येय एक ही रहता है और मन भी एकाग्र रहता है साधक का चित्त अशान्त या अस्थिर नहीं रहता है । आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है कि जब इन तीनों योगों को आत्मबुद्धि से ग्रहण किया जाता है, तब तक यह जीव संसार में ही रहता है । = श्रुतपूर्वक मन वचन कायादि में विचारों के संक्रमण के कारण ही जीव संसारी रहता है लेकिन फिर भी अचिन्त्य प्रभाव वाले ध्यान के कारण ही शान्तचित्त वाला मुनि क्षण मात्र में ही अपने समस्त कर्मों को मूल से नाश कर देता है । ... यह ध्यान एक शब्द से दूसरे शब्द पर और एक योग से दूसरे योग पर जाता है । इसी कारण इसको सवितर्क-वीचार कहते हैं ।*

+ दग्वाइमणेगाइं तीहिं वि जोगेहि जेण ज्ञायंति ।

उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं ति तं भणिदं ॥

जम्हा सुदं विदक्कं जम्हा पुव्वगयअत्थकुसलो य ।

ज्झायंदि ज्झाणं एदं सविदक्कं तेण तं ज्झाणं ॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमोहु वीचारो ।

तस्स य भादेण तगं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥

[षट्खण्डागम धवला टीका ५/४/२६/५६-६०]

= स्वबुद्ध्या यावद्गृणीयात् कायवाक् चेतसां त्रयम् ।

संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृत्तिः ॥ [समाधितन्त्र ६२]

.... अस्याचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात्स प्रशान्तधीः ।

मोहुमुन्मूलत्येव शमयत्यथवा क्षणे ॥

'इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्ध महार्णवात् ।

अथमेकं समादाय ध्यायन्नथान्तरं ब्रजेत् ॥' (ज्ञानार्णव में उद्धृत, ३, ४२/२०)

* शब्दाच्छब्दान्तरं यायाद्योगं योगान्तरादपि ।

सवीचारमिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ॥ (वही ४२/२१)

इस ध्यान के द्वारा साधक अपने चित्त पर विषय प्राप्त कर लेता है और अपने कषायों को शान्त कर लेता है। इस ध्यान के फलस्वरूप संवर, निर्जरा और अमरसुख प्राप्त होता है, क्योंकि इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

२-एकत्ववितर्कअवीचार शुक्ल ध्यान :-

शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण के ध्यान का नाम एकत्ववितर्क-अवीचार है। इस ध्यान में साधक श्रुतज्ञान का आलम्बन लेकर भी अभेद प्रधान ध्यान में लीन रहता है, वह न तो अर्थ व्यञ्जन पर संक्रमण करता है और न ही योगों पर, वह तो पर्यायविषयक ध्यान करता है। + इस ध्यान में वितर्क का संक्रमण नहीं होता अपितु एक ही योग का आश्रय लेकर एक ही द्रव्य का ध्याता इसका चिन्तन करता है, एक ही द्रव्य का आलम्बन लेने से इस ध्यान को एकत्व कहते हैं। ☀

+ जं पुण सुणिककंप निवायसरणऽप्पईवमिव चित्त ।

उप्पाय-ठिइ-भंगाइयाणमेगमि पज्जाए ॥

अबियारमत्थ-वज्जण-जोगंतरओ तयं बितियसुवकं ।

पुव्वगयसुयालंबणमेगत्त वितक्कमविचारं ॥ (ध्यानशतक ७६-८०)

एवं श्रुतानुसारादेकत्व-वितर्कमेक-पर्याये ।

अर्थ व्यञ्जन-योगान्तरेष्वसंक्रमणमन्यत्तु । (योगशास्त्र ११/७)

☀ (क) द्रव्यं चैकमणुं चैक पर्यायं चैकमश्रम ।

चिन्तयत्येकयोगेन यत्रैकत्वं तदुच्यते ॥

एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेच्चदि ।

योगैकेन यदक्षीणं तदेकत्वमुदीरितम् ॥ (ज्ञानार्णव में उद्धृत,
४,४२/२७)

(ख) (भगवती आराधना, वि० टी० १८७७)

(ग) (षट्खण्डागम १३/५/४/२६/६१-६३)

(घ) तत्त्वार्थसूत्र ६/४४/४४५

(ङ) मूलाचार प्रदीप ६/२०८२

(च) हरिवंश पुराण ५६/६६-६८

(छ) सर्वार्थसिद्धि ६/४४/४५६/४

(२१२) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

इससे पहले वाले ध्यान में योगी का मन अर्थ व्यञ्जन योग में चिन्तन करतै हुए एक ही आश्रय पर उलट फेर करता रहता था लेकिन स्थिर नहीं हो पाता था परन्तु इसके विपरीत इस ध्यान में वह उलट फेर बन्द हो जाता है और योगी का मन एक ही आलम्बन पर स्थिर हो जाता है। वह योगी पृथक्त्व रहित, वीचार रहित और वितर्क सहित एवं निर्मल एकत्व ध्यान को प्राप्त कर लेता है।+ इस शुक्ल ध्यान की साधना से साधक को एक विशेष प्रकार के उदात्त अनुभव की प्राप्ति होती है, उस योगी को सम्पूर्ण जगत् हस्तामलकवत् दीखने लगता है ☀, क्योंकि इस ध्यान से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।× केवलज्ञान इतना शक्तिशाली होता है कि इससे योगी सर्वज्ञ व त्रिकालज्ञ हो जाता है। इन्द्र, सूर्य, मनुष्य एवं देवादि उसको पूजते हैं और वह अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि को प्राप्त करता है और वह शीलसहित पृथ्वी तल में विहार करते हैं।= उनके वचनों को सभी प्राणी अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं, वे जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ खुशहाली एवं समृद्धि बढ़ती जाती है।

+ अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः।

एकत्वमेकयोगस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मलम् ॥ (ज्ञानार्णव ४२/२६)

☀ सम्प्राप्य केवलज्ञानदर्शने दुर्लभे ततो योगी।

जानाति पश्यति तथा लोकालोकं यथावस्थम् ॥ (योगशास्त्र ११/२३)

× (क) निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्ति पर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षण भाव श्रुतबलेन स्थिरी भूयावीचारं गुणद्रव्यपर्याय परावर्तनं न करोति ।.....। तेनैव केवलज्ञानोत्पत्तिः इति।

(वृहद्द्रव्यसंग्रह, टी० ४८/२००/३)

(ख) आत्मलाभमथासाद्य शुद्धिं चात्यन्तिकीं पराम्।

प्राप्नोति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ॥ (ज्ञानार्णव ४२/३०)

= वही ४२/३२-३३

उनको अनेक प्रकार की लब्धियाँ होती हैं लेकिन वे किसी भी प्रकार से उन सुखों को भोगने की इच्छा नहीं करते । वे तो जीवों को मिथ्यात्व से दूर कर मोक्ष मार्ग में लगाते हैं और इसी से उन्हें आत्मसन्तुष्टि की प्राप्ति होती है । जिन जीवों को तीर्थंकर पद की प्राप्ति नहीं होती वे जीव भी अपने ध्यान के बल से केवलज्ञान को प्राप्त करके शेष आयु तक धर्म का उपदेश देते हुए अन्त में मोक्ष को प्राप्त करते हैं । +

इस प्रकार से एक ही योग का आश्रय लेकर एक द्रव्य पर्याय का ध्यान करने को एकत्ववितर्कअवीचार शुक्ल ध्यान कहा गया है । ☀

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्ल ध्यान :-

इस शुक्ल ध्यान में सूक्ष्म क्रिया का अभिप्राय काययोग को सूक्ष्म करना है तथा अप्रतिपाती विशेषण इस बात को प्रगट करता है कि शुक्ल ध्यान में प्रवेश करके साधक वापस नहीं लौटता अर्थात् जब सर्वज्ञ की आयुकर्म अन्तर्मुहुर्त्त प्रमाण तक ही अवशिष्ट रहती है तब अघातिया कर्मों अर्थात् नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीनों की स्थिति आयु से अधिक हो जाती है और वह केवल ज्ञान रूपीसूर्य से पदार्थों को प्रकाशित करने लगता है तब वह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान के योग्य हो जाता है । = अर्थात् इससे पूर्व के शुक्ल

× तीर्थंकरनामसंज्ञं न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात् ।

उत्पन्न केवलः सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम् ॥ (योगशास्त्र ११/४८)

☀ ध्यानस्तव १७-१९

= (क) सुहुमम्मि कायजोगे, वट्टंतो केवली तदियसुक्कं ।

ज्ञायदि णिरुंभिदुं जे सुहुमत्तं कायजोगपि ॥

(भगवती आराधना, वि० टी० १८८१)

(ख) यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ।

समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥ (ज्ञानार्णव ४२/४३)

(ग) अन्तमु हुत्तंशेषायुः स यदा भवतीश्वरः ।

तत्तुत्यस्थितिबेधादि त्रितयश्च तदा पुनः ॥

समस्तवाङ्मनोयोगं काययोगं च बाह्यरम् ।

प्रहाप्यालम्ब्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः ॥

तृतीयं शुक्लसामान्यात्प्रथमं तु विशेषतः ।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानमास्कन्तुमर्हति ॥ (हरिवंशपुराण ५६/६९-७१)

(घ) चारित्रसार २०७/३

(ड.) राजवार्तिक ६/४४/१/६३५/१

[२१४] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

ध्यान को करने से साधक ज्ञानावरणादि चारों घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने के कारण सर्वज्ञ हो जाता है, तब उसे केवली कहा जाता है। वे ही केवली जब अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु के शेष रहने पर मुक्ति-गमन के समय कुछ योग निरोध कर चुकने वाले सूक्ष्म काय की क्रिया से जो ध्यान करते हैं, वह सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपाती शुबल ध्यान कहलाता है।—>

इस ध्यान में सूक्ष्मकाययोग की अवस्था कुछ क्षण रहने के बाद बन्द हो जाती है क्योंकि आत्म प्रदेशों को सर्वथा स्थिर निश्चल करने वाला अत्यन्त प्रवर्धमान पुरुषार्थ बादर सूक्ष्म मनोयोग वचनयोग तथा चादर काययोग का निरोध करता है और सूक्ष्म काययोग को भी बन्द करने के लिए उद्यत होता है और इस काययोग को शान्त कर देता है।△

इस ध्यान के द्वारा योगी का मोक्ष प्राप्ति का समय नजदीक

→ (क) निव्वाणगमणकाले केवलणो दरनिरुद्धजोगस्स ।

सुहुमकिरियाऽनियट्ठि तइयं तणुकायकिरियस्स ॥ (ध्यान-शतक ८१)

(ख) एवमेकत्वं वितर्कशुक्लध्यानवैश्वानरनिर्दग्धवातिकर्मेन्धन..... सयदान्तमूर्हूर्तं शेषायुष्कः.....तदा सर्ववाङ्मनसयोगं बादर-काययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रति-पातिध्यानमास्कन्दितुमर्हतीति ॥

.....समीकृतस्थितिशेष कर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान ध्यायति । (सर्वार्थ-सिद्धि ९/४४/४५६/८)

△ (क) काययोगे स्थितिं कृत्वा बादरेऽचिन्त्यचेष्टितः ।

सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥

काययोगं ततस्त्यक्त्वा स्थितिमासाद्य तद्वये ।

स सूक्ष्मीकुरुते पश्चात् काययोगं च बादरम् ॥ (ज्ञानार्णव ४२/४८-४९)

(ख) योगशास्त्र ११/५३-५५

आ जाने के कारण तीनों योगों में मनोयोग एवं वचनयोग का पूरी तरह से निरोध हो जाता है लेकिन काययोग स्थूल काययोग से बदल कर सूक्ष्म रूप में रह जाता है जो श्वासोच्छ्वास की क्रिया के रूप में विद्यमान रहता है । यह सब क्रियायें तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम काल में होती हैं और जब तेरहवें गुणस्थान का समय समाप्त हो जाता है तो योगनिरोध पूरा तरह से हो जाता है और चौदहवाँ गुण-स्थान प्रारम्भ हो जाता है। ×

समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्ल ध्यान :-

जिस वक्त श्वास-प्रश्वास आदि क्रियाओं का भी निरोध हो जाता है और आत्मा के प्रदेशों में किसी भी प्रकार का कम्पन नहीं होता तब वह ध्यान समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति कहलाता है, क्योंकि यह ध्यान विकर्क रहित और विचार रहित होता है, तथा इसमें अनिवृत्ति है, क्रिया से रहित होने के कारण शैलेशी अवस्था को प्राप्त है एवं योग रहित है ।+ इस ध्यान में सूक्ष्मकाय योग-काय-

... (क) निर्वाणगमनसमये केवलनो दरनिरुद्धयोगस्य ।

सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति तृतीयं कीर्तितं शुक्लं ॥ [योगशास्त्र ११/८]

(ख) कीययोगे ततः सूक्ष्मे स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणात् ।

योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम् ॥ (ज्ञानार्णव ४२/५०)

(ग) तदो अतोमुहुत्तेण सुहृमकायजोगेण सुहृमउस्सासणिस्सासं णिरु-
भदि । तदो अन्तोमुहुत्तं गंतूण सुहृमकायजोगेण सुहृमकाय-
जोगं णिरुं भमाणो इमाणि करणाणि करेदिपढमसमए अपुव्व-
फददयाणि करेदि पुत्वफददयाण हेट्ठदो ।

(षट्खण्डागम, धवला टी० १३/५/४/२६/८५/३)

(घ) सूक्ष्मक्रियानिवृत्याख्यं, तृतीयं तु जिनस्यतत् ।

अर्धरुद्धांगयोगस्य, रुद्धयोगद्वयस्य च ॥ (अध्यात्मसार ५/७८)

× बृहद्द्रव्यसंग्रह, टी. ४८/२००

+ (क) अविदक्कमवीचारं अणियट्ठी अकिरियं च सेलेसि ।

ज्ज्ञाणं णिरुद्धजोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥ (षट्खण्डागम, ध.
टी. १३/५/४/२६/७७)

(ख) तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व णिप्पकंपस्स ।

वोच्छिन्नकिरियम प्पडिवाइज्ज्ञाणं परमसुक्कं ॥ (ध्यानशतक ८२

(२१६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

क्रिया भी समाप्त हो जाती है अतः कोई भी योग नहीं रहता और केवलज्ञानी अयोगकेवली बन जाते हैं क्योंकि इस समय आत्मा में किसी भी प्रकार के स्थूल, सूक्ष्म, मानसिक, वाचिक, कायिक व्यापार नहीं होते । Δ यह अति उत्तम ध्यान चौदहवें अयोगी गुणस्थान में प्रारम्भ होता है जिसमें केवली भगवान् अन्त समय से पहले समय में अर्थात् उपान्त्य में ७२ कर्मप्रकृतियों को तथा इसी गुणस्थान की अब-शिष्ट तेरह कर्मप्रकृतियों को भी नष्ट कर देते हैं । +

अयोगकेवली जब काययोग का निरोध करके औदारिक, तैजस और कामण शरीरों का नाश करता है तभी वह इस उत्तम और

Δ (क) स्वप्रदेशपरिस्पन्दयोगप्राणादि कर्मणाम् ।

समुच्छिन्नतयोक्तं तत्समुच्छिन्नक्रियाख्यया ॥

संबन्धास्रवाणां हि निरोधस्तत्र यत्नतः ।

अयोगस्य यथाख्यातचारित्रं मोक्षसाधनम् ॥ (हरिवंश पुराण ५६/७८-७९)

(ख) येन ध्यानेन चायोगीभिष्क्रियो योगवर्जितः ।

यातिमुक्तिपदं शुबलं तच्चतुर्थं क्रियातिगम् ॥ (मूलाचार प्रदीप ६/२०८४)

(ग) ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिर्वृत्तिध्यानमारभते । समुच्छि-
न्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोग सर्वप्रदेश परिस्पन्दन
क्रिया व्यापारत्वात्समुच्छिन्ननिवृत्तित्युच्यते ॥

(सर्वाथसिद्धि ९/४४/४५७/६)

+ द्वासप्ततिविलीयन्ते कर्मप्रकृतयो द्रुतम् ।

उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिं श्रीप्रतिबन्धकाः ॥

तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् ।

समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगि परमेष्ठिनः ॥

(ज्ञानार्णव ४२/५२-५४)

अतिनिमल ध्यान को प्राप्त करता है । + जब साधक की सूक्ष्म क्रिया की भी निवृत्ति हो जाती है, तथा जितने समय में वह अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरों को बोलता है उतने समय में इस ध्यान से वह केवली शैली अवस्था को प्राप्त करके पर्वत की भाँति निश्चल एवं अडिग हो जाते हैं ।☀ इस ध्यान को दूसरे शब्दों में व्युपरतक्रियानिवृत्ति भी कहा गया है क्योंकि इस ध्यान में श्वासोच्छ्वास के प्रचार रूप सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है — और सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा के बिना उससे लौटना सम्भव नहीं होता इसीलिए इसको व्युपरतक्रियानिवृत्ति के नाम से भी जाना जाता है ।... इस प्रकार से इस ध्यान से योगी अयोगी अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।

+ (क) तं पुण णिरुद्ध जोगो सरीर तियणासणं करेमाणो ।
सवणहु अपडिवादी ज्ञायदि ज्ञाणं चरिमसुककं ॥
(भगवती आराधना, वि. टी., १८८३)

(ख) चारित्रसार २०६/३

(ग) तत्त्वार्थसार ७/५३-५४

☀ क। तुरीयंतु समुच्छिन्न-क्रियमप्रतिपाति तत् ।

शैलवन्निष्प्रकम्पस्य, शैलेस्यां विश्ववेदिनः ॥ (अध्यात्म-
सार ५/७६)

(ख) लघुवर्ण-पचकोद्गिरण तुल्यकालमवाप्य शैलेशीम् ।

(योगशास्त्र ११/५७)

(ग) सहस्वोच्चारावृत्तीः पञ्च स्थित्वा स्वकालतः ।

सिद्धि सादिरनन्ता स्यादनन्तगुणसन्निधिः ॥

(हरिवंशपुराण ५६/११०)

— विशेषणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद् व्युपरतक्रियं च तद-
निवृत्ति चानिर्वर्तकं च तद् व्युपरतक्रियनिवृत्ति संज्ञं चतुर्थं-
शुक्ल ध्यानं ।

(बृहद्द्रव्यसंग्रह ४/२००/८)

.... ध्यानशतक, विवेचन ८२/४४

(२१८) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

चारों शुक्ल ध्यानों में अन्तर :-

आचार्य अपराजितसूरि ने भगवती आराधना की विजयोदया टीका में इन चारों शुक्ल ध्यानों में अन्तर बतलाते हुए कहा है कि एकत्व वितर्कअवीचार शुक्ल ध्यान एक ही द्रव्य का आश्रय लेता है और जबकि पृथक्त्ववितर्कवीचार में परिमित अनेक द्रव्यों एवं पर्यायों का आलम्बन लिया जाता है। तीसरा सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान और समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्ल ध्यान सभी वस्तुओं को विषय करते हैं क्योंकि केवल ज्ञान का विषय सब द्रव्य और सब पर्याय हैं। पहले शुक्ल ध्यान का स्वामी उपशान्तमोह होता है जबकि दूसरे शुक्ल ध्यान का स्वामी क्षीणकषाय माना गया है। तीसरे शुक्ल ध्यान का सयोगकेवली कहा गया है जबकि चौथे शुक्ल ध्यान के स्वामी को अयोगकेवली कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रव्य पर्याय एवं स्वामी की अपेक्षा से दूसरा शुक्ल ध्यान विलक्षण है एवं सभी शेष तीनों ध्यानों से भिन्न है। इन भिन्नता के साथ-साथ इन ध्यानों में कुछ समानता भी है जैसे पहले शुक्ल ध्यान की तरह दूसरा ध्यान भी सवितर्क है। X

शुक्ल ध्यानों के स्वामी :-

तत्त्वार्थ सूत्र में प्रथम दो शुक्ल ध्यानों का स्वामी श्रुतकेवली और अन्तिम दो शुक्ल ध्यानों के स्वामी केवली कहे गये हैं। + धवला में पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान का ध्याता चौदह, दस अथवा नौ पूर्वी का धारक तीन प्रकार के प्रशस्त संहनन वाला उपशान्तकषाय

X (क) भगवती आराधना, वि. टी., पृ. ८३७/४

(ख) जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।

ज्झायदि ज्झाणं एवं सवितक्कं तेण तं ज्झाणं ॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमो हु वीचारो ।

तस्स अभावेण तयं ज्ञाणं अविचारमिति वुत्तं ॥

(भगवती आराधना १७७८-७९)

+ शुक्ले चाद्यै पूर्वविदः । परेकेवलिनः । (तत्त्वार्थ सूत्र ६/३७-३८)

[२२०] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अयोगकेवली गुणस्थान में योगों का पूर्ण रूप से निरोध होने पर समुच्छिन्नक्रियप्रतिपाती शुक्ल ध्यान होता है जबकि सयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहुर्त काल में जब मुनि स्थूल योगों का निरोध करके सूक्ष्म काययोग में प्रवेश करता है तब सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्ल-ध्यान होता है । × आदिपुराण में छद्मस्थों के उपशान्तमोह और क्षीण-मोह केशुक्ल और केवलियों के परमशुक्ल ध्यान माना है । Δ

शुक्ल ध्यान का फल

शुक्ल ध्यान का मुख्य फल मोक्ष की प्राप्ति है लेकिन चारों ध्यानों का अलग-अलग जो फल है वह इस प्रकार है—पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान स्वर्ग एवं मोक्ष के सुखों को देने वाला है, इससे संवर, निर्जरा एवं अमर सुख तो प्राप्त होता है लेकिन मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती । — इस ध्यान के द्वारा मुनि क्षण भर में मोहनीय कर्मों का मूल से ही नाश कर देता है । ✽

तीन घातिया कर्मों का मूल रूप से ही नाश कर देना ही एकत्व वितर्कअवीचार शुक्लध्यान का फल है । ☀

× काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, अयोगस्यव्युपरतक्रियानिवर्तीति ।

[सर्वाशंसिद्धि ६/४०/४५४/७]

Δ (क) शुक्लं परमशुक्लं चेत्याम्नाये तद् द्विधोदितम् ।

छद्मस्थ स्वामिकं पूर्वं परं केवलिनां मतम् ॥ (आदिपुराण २१/१६७)

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ६/३८-४०

... (क) स्वर्गा पवर्गंगति फल संवर्तनीयमिति । [चारित्रसार २०६/२]

(ख) एवं संवर-णिज्जरामरसुहफलं एदम्हादो णिव्वुइगमणाणुवलं-भादो । [षट्खण्डागम, घ. टी., १३/५/४/२६/७६/१]

✽ अस्याचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात्त्रिा प्रशान्तधीः ।

मोहमुन्मूलयत्यैव शमयत्यथवा क्षणे ॥ [ज्ञानार्णव ४२/२०]

☀ तिण्णं घादिकम्माणं णिम्मूलविणासफलमेयत्तविदक्क अवीचार ज्ञाणं । [षट्खण्डागम, घ टी. १३/५/४/२६/८१/२]

द्रग्बोधरोधकद्वन्द्वं मोहविघ्नस्य वापरम् ।

स क्षिणोति क्षणादेव शुक्लधूमध्वजार्चिषा ॥ (ज्ञानार्णव ४२/२६)

योग का निरोध करना एवं शैलेशी अवस्था के काल के क्षीण होने पर कर्मों से मुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त करना ही क्रमशः सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान एवं समुच्छिन्नक्रियनिवृत्ति शुक्ल ध्यान का फल है। + ;

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल ध्यान में ही चित्त का निरोधपूर्ण रूप से होता है, चित्त की जितनी भी वृत्तियाँ होती हैं वे इस ध्यान के द्वारा शान्त हो जाती हैं। इस ध्यान के द्वारा कर्मों का क्षय होता है और मन का आत्मा की सत्ता में विलय हो जाता है। शुक्ल ध्यान के द्वारा ही साधक अपनी आत्मिक अशुद्धियों को करके उन्हें पूरी तरह से शुद्ध करने में समर्थ हो जाता है।

अतः शुक्ल ध्यान ही सर्वोत्कृष्ट तप है, समस्त धार्मिक क्रियाकलापों की यह चरम सीमा है। इस ध्यान की साधना के द्वारा साधक अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष का वर्णन अगले परिच्छेद में किया जा रहा है।

० — ०



+ तदियमुक्कवैज्ञाणं जोगणिरोहफलं । सेलेसिय अद्धाए ज्झीणाए सव्वकं-
म्मविप्पमुक्को एगसमएणसिद्धि गच्छदि ।
(षट्खण्डागम १३/५/४/२६/८८/१)

नवम् परिच्छेद

ध्यान एवं गुणस्थान

जैन दर्शन में 'गुण' शब्द वस्तु की किन्हीं सहभावी विशेषताओं का वाचक माना गया है। प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण पाये जाते हैं। एक गुण में अनेकों पर्याय हो सकते हैं परन्तु एक गुण में कभी भी अन्य कोई और गुण नहीं हो सकता।

दर्शन मोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षय क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर जिन भावों के उत्पन्न होने से जीव लक्षित किये जाते हैं उन भावों को मनीषियों ने "गुणस्थान" कहा है। + मोह और मन, वचन काय की प्रवृत्ति के कारण जीवों के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण जो उतार-चढ़ाव होता रहता है वह गुणस्थान कहा गया है। यद्यपि विद्वानों ने माना है कि परिणाम हमेशा अनन्त होते हैं, परन्तु उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट बीतराग परिणाम तक १४ गुणस्थान माने गये हैं, जो कि इस प्रकार से हैं—१-मिथ्यादृष्टि, २-सासादन सम्यग्दृष्टि, ३-सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४-अविरतसम्यग्दृष्टि, ५-देशविरत, ६-प्रमत्तसंयत, ७-अप्रमत्तसंयत, ८-अपूर्वकरण, ९-अनिवृत्तिकरण, १०-सूक्ष्मसाम्पराय, ११-उपशासन कषाय, १२-क्षीण कषाय, १३-संयोगकेवली और १४-अयोगकेवली। ☀

+ जेहिं दु लखिज्जंते उदयादिमु संभवेहि भावेहि ।

जीवा ते गुणसण्णा णिदिदट्ठा सव्वदरिसीहि ॥ (पंचसंग्रह, प्रा० १/३)

(क) षट्खण्डागम १/१/१/६-२२

(ख) मिच्छोसासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।

विरदा पमत्त इदरो अपुव्व आणियट्ठ सुहुमो य ।

उवसंत खीणमोहो सजोग केवलजिणो अजोगीय ।

चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥ (शास्त्रसार समुच्चय पृ० ३५७)

(२२३) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

१-मिथ्यादृष्टि :-

इस अवस्था में दर्शन मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण, बीतराग सर्वज्ञ अर्हत भगवान के द्वारा बतलाये गये तत्त्व, द्रव्य, पदार्थ, गुरु एवं जिनवाणी के प्रति श्रद्धा का न होना मिथ्यात्व गुणस्थान है। यह गुणस्थान मिथ्यात्व कर्म के उदय से होता है।

२-सासादन-सम्यग्दृष्टि :-

प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाले व्यक्ति के जब चारों कषायों में से किसी एक कषाय का उदय हो जाता है तब उसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। सम्यक्त्व का क्षणिक आस्वादन होने से ही इस गुणस्थान को सासादन कहा गया है।

३-सम्यक् मिथ्यादृष्टि :-

जिस प्रकार से दही और खांड को मिला देने से एक अलग ही स्वाद बन जाता है उसमें न तो दही का स्वाद आता है और न ही खांड का अपितु एक मिश्रित स्वाद बन जाता है, उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रित परिणाम होता है। इस गुणस्थान वाले न तो सत्य का ही दर्शन कर पाते हैं और न ही मिथ्यात्व का। इस गुणस्थान में न तो आयु बँधती है और न मरण होता है।

४-अविरत सम्यग्दृष्टि :-

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से या क्षय अथवा क्षयोपशम होने से जो उपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय बना रहता है। वह अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान होता है।

५-देशविरत :-

इस गुणस्थान में पूर्ण रूप से तो नहीं परन्तु आंशिक रूप में चारित्र्य का पालन होता है। यह पाँच पापों का एक देश त्याग करके ११ प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा का चारित्र्य पालन करता है तब उसके देशविरत गुणस्थान होता है।

६-प्रमत्तसंयत :-

इस गुणस्थान में स्थित साधक महाव्रती हो जाता है, किन्तु धूलिका रेखा के समान क्रोध आदि का क्षयोपशम हो जाने पर जब महाव्रत का आचरण होता है किन्तु जल रेखा के समान क्रोध आदि कषायों तथा नोकषायों के उदय से चारित्र में मैल रूप प्रमाद भी होता रहता है तब छठा गुणस्थान होता है।

७-अप्रमत्तसंयत :-

जब साधक संज्वलन कषाय तथा नोकषाय के मंद उदय से प्रमाद रहित होकर आत्म ध्यान में लीन हो जाता है तब उसको अप्रमत्तसंयत नामक गुणस्थान होता है।

८-अपूर्वकरण :-

यह अवस्था आत्मगुणशुद्धि या आत्मलाभ की अवस्था मानी जाती है क्योंकि इस अवस्था में साधक कषायों के सिवा चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के क्षय करने के लिए श्रेणी चढ़ते समय जो प्रथम शुक्ल ध्यान के कारण प्रतिसमय अपूर्वपरिणाम होते हैं। उस साधक की साधना में नये-नये अपूर्व भाव प्रगट होते हैं। यही अपूर्व-करण नामक आठवाँ गुणस्थान है।

९-अनिवृत्तिकरण :-

इस गुणस्थान में साधक के ९ नोकषायों का तथा अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान-आवरण कषाय सम्बन्धी क्रोध, मान, माया आदि २० चारित्र मोहनीय कर्म प्रकृतियों का क्षय होकर स्थूल लोभ शेष रह जाता है। इस गुणस्थानवर्ती के निरन्तर एक ही परिणाम होता है।

१०-सूक्ष्मसाम्पराय :-

साम्पराय का अर्थ कषाय होता है। इस गुणस्थान में साधक के कुसुम्भ रंग के समान सूक्ष्म लोभ रह जाता है इसीलिए इसे सूक्ष्म कषाय के नाम से भी जाना जाता है।

११-उपशान्तकषाय :-

इस गुणस्थान तक पहुँचते-पहुँचते साधक के सम्पूर्ण कषायों का

(२२५) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

क्षय हो जाता है यहाँ पर उसके विशुद्ध यथाख्यात चारित्र हो जाता है। रागद्वेष आदि कोई भी विकार नहीं रह पाता। इसीलिए वह साधक वीतराग हो जाता है। लेकिन कभी क्षय हुआ सूक्ष्म लोभ कषाय दुबारा से उदय हो जाता है, जिससे उपशान्त कषाय बीला साधक वापस सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में पहुँच जाता है।

१२-क्षीण कषाय :-

इस गुणस्थान में साधक या मुनि के सम्पूर्ण कषायों का क्षय हो जाता है जिससे उसे नीचे गिरने का भय नहीं रह पाता है उसे वीतराग पद सदा के लिए प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थानबर्ती को क्षीण कषाय निर्ग्रन्थ भी कहा जाता है।

१३-सयोग केवली :-

इस गुणस्थान में मुनि सर्वज्ञ हो जाता है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म का पूरी तरह से क्षय कर देता है तब उसको अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अनन्तवीर्य की प्राप्ति होती है, लेकिन इस गुणस्थान में साधक की काया की सूक्ष्म क्रिया रह जाता है उसके भाव, मन, योग नहीं रहता और वचन योग के कारण उनका दिव्य उपदेश होता है। साधक की इस अवस्था को जीवन्मुक्त अवस्था भी कहते हैं।

१४-अयोग केवली :-

आयु समाप्त होने से कुछ समय पहले ही जब योग का भो निरोध हो जाता है तब अन्तिम गुणस्थान अर्थात् चौदहवाँ गुणस्थान अयोगकेवली कहा जाता है। यहाँ तक आत्मा का विकास चरमोत्कर्ष तक पहुँच जाता है क्योंकि इस गुणस्थान में शेष समस्त अधाति कर्मों का नाश हो जाता है। द्रव्यकर्म, भाव कर्म और नोकर्म से रहित होकर सिद्ध अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हो जाते हैं और आत्मा के समस्त गुण विकसित हो जाते हैं और उसके पश्चात् एक ही समय में ऊर्ध्व गमन करके लोक के अग्रभाग में पहुँचकर ठहर जाते हैं। +

+ (क) मूलाराधना ११६५-११६६

(ख) राजवार्तिक ६/१/११/५८८/८

(ग) पंचसंग्रह, संस्कृत १/१५-१८

(घ) स्थानाङ्ग १५

ध्यान का लक्ष्य—लब्धियाँ एवम् मोक्ष(२२६)

इन चौदह गुणस्थानों में से प्रारम्भ के चार गुणस्थानों का अन्तर्भाव बहिरात्मा में होता है + और चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक का बिलय अन्तरात्मा में हो जाता है क्योंकि इन अवस्थाओं में आत्मा का बढ़ना एवं गिरना होता रहता है और इसलिए इन गुणों का अन्तर्भाव अन्तरात्मा में किया गया है। शेष अन्तिम दो गुणस्थानों अर्थात् सयोगकेवली एवं अयोगकेवली का अन्तर्भाव परमात्मा में किया गया है क्योंकि इन अवस्थाओं में जीव परम तत्त्व अर्थात् चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है। ☀ इस प्रकार से चौदह गुणस्थानों का बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा में अन्तर्भाव किया जाता है।

ध्यान का लक्ष्य : लब्धियाँ

योगी साधक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, तप आदि की साधना करके ध्यान की सिद्धि प्राप्त करता है और इस साधना के द्वारा वह अपने सभी संचित कर्मों का क्षय कर देता है। = ध्यान की साधना के द्वारा अनेक चमत्कारिक शक्तियों का उदय होता है जिन्हें लब्धियाँ कहते हैं। ये विशिष्ट शक्तियाँ जनसाधारण के लिए बहुत ही दुर्लभ होती हैं इसीलिए ये उन लोगों को अद्भुत एवं चमत्कारी प्रतीत होती हैं। जिस साधक का अन्तिम

+ (क) बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरांतरः।

चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥ (समाधितन्त्र ५)

(ख) योगसार ६

☀ (क) अन्ये तु मिथ्यादर्शनादि भाव परिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्य गुण स्थानेत्र बाह्यात्मा, ततः परं क्षीणमोहगुणस्थानं यावदन्तरात्मा / ततः परन्तु परमात्मेति।

(अध्यात्म परीक्षा १२५)

(ख) आध्यात्मिक विकास क्रम, पृ० ४०

= क्षिणोति योगः पापानि, चिरकालाजितान्यपि।

प्रचितानि यथैधांसि, क्षणादेवाशुशुक्षणिः ॥ (योगशास्त्र १/७)

[२२७] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करना ही होता है वे मुनि इन लब्धियों के माया-मोह में नहीं पड़ते....क्योंकि वे जानते हैं कि उनका लक्ष्य शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति करना है और लब्धियाँ उस साधना की फल-सिद्धि हैं। जैसे-जैसे योगी का मन शुद्ध एवं निर्मल होता जाता है वैसे-वैसे ही उसमें समता, वैराग्य आदि भावनाओं का समावेश होता जाता है और वह सर्वज्ञ बन जाता है। इन विशिष्ट शक्तियों को जैनागमों (श्वेताम्बरों ग्रन्थों) में 'लब्धि' कहा गया है Δ , जबकि दिगम्बर ग्रन्थों में 'ऋद्धि' कहा गया है। वैदिक पुराणों में इन्हें 'सिद्धि' *और पातञ्जल योगदर्शन में इन्हें 'विभूति' कहा गया है। 卐

ध्यान साधना से प्राप्त इन विशिष्ट शक्तियों के द्वारा साधक असम्भव कार्य को भी सम्भव करने में सक्षम होता है। योगसाधना में वैदिक, जैन एवं बौद्ध सम्प्रदाय की परम्परायें मानी जाती हैं इसीलिए इन लब्धियों का वर्णन इन तीनों ही परम्पराओं से प्राप्त होता है।

वैदिक परम्परा में लब्धियाँ :-

वैदिक परम्परा में अध्यात्म साधना में उपनिषदों का महत्त्व बहुत माना गया है और श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि लब्धियों से निरोगता, जरा मरण का अभाव, शरीर का हल्कापन, अरोग्य, विषयनिवृत्ति, शरीर कान्ति, स्वरमाधुर्य, मलमूत्र

.... णो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, णो परलोगट्ठाए तवमहि-
ट्ठिज्जा । णो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए, तवमहिट्ठिज्जा
नण्णत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ।

(दशवैकालिक सूत्र ६/४)

Δ गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिः । (आवश्यक मलगिरि-
वृत्ति, अ० १)

* श्रीमद् भागवतपुराण ११/१५/१

卐 पातञ्जल योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र ३

की अल्पता आदि होती प्राप्त है।—श्री मद्भगवद्गीता में तो पूरे एक अध्याय में इसका वर्णन किया गया है।—

पौराणिक साहित्य में सिद्धियों के १८ प्रकार बतलाये गये हैं। इनमें से-अणिमा, महिमा और लघिमा—ये तीन शारीरिक सिद्धियाँ कही गई हैं। वहाँ इन्द्रिय सिद्धि को 'प्राप्ति' कहा गया है। 'प्राकाम्य' नामक सिद्धि से साधक सभी पदार्थों को इच्छा के अनुसार प्राप्त कर लेता है। 'ईशिता' सिद्धि से मग्या के कार्यों को साधक प्रेरित करता है। 'वशिता' सिद्धि के द्वारा साधक भोगों में आसक्त नहीं होता है। 'कामावसायिता' सिद्धि के द्वारा साधक अपनी इच्छा के अनुसार सुखों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।— इन सिद्धियों के अलावा १-त्रिकालज्ञत्व, २-अद्वन्द्वत्व, ३-परचित्त अभिज्ञान, ४-प्रतिष्टम्भ तथा ५-अपराभव—ये पाँच सिद्धियाँ और भी हैं। X

हठयोग के ग्रन्थों में भी अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन प्राप्त होता है।

योग दर्शन में लब्धियाँ :-

योगदर्शन में जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि जो योग के आठ अंग बतलाये गये हैं, उनमें से प्रत्येक अङ्ग की साधना करने से आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार की सिद्धियाँ योगी को प्राप्त होती हैं।

यम से प्राप्त विभूतियों के विषय में उल्लेख किया गया है कि अहिंसा व्रत का पालन करने वाले योगी के सान्निध्य में व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक जीव भी अपनी क्रूर प्रवृत्ति को त्याग देते हैं। सत्य-

— न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं, वर्णश्लादं स्वरसौष्ठवं च ।

गन्धः शुभोमूत्रपुरीषमल्पं, योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ।

(श्वेताश्वतर उपनिषद् २/१२-१३)

— श्री मद् भगवद्गीता, दशवाँ अध्याय

= श्री मद् भागवत पुराण, स्कन्ध ११, अ. ५, श्लोक ६-७

X वही, स्कन्ध ११, अ. ५, श्लोक ८

(२२६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

व्रत का पालन करने वाले का वचन सदैव सत्य ही होता है मिथ्या नहीं होता । अस्तेय व्रत की प्रतिष्ठा से वह समृद्धिशाली हो जाता है । अपरिग्रह की साधना से योगी को पूर्वजन्म के ज्ञान का बोध होता है । +

नियम से प्राप्त लब्धियों के द्वारा साधक की अन्तर्बाह्य शौच पालन से शरीर एवं चित्त की शुद्धि होती है एवं वह एकाग्रता, इन्द्रिय जय एवं आत्मबोध की योग्यता को प्राप्त करता है ।

आसन के द्वारा साधक के सम्मुख सर्दी-गर्मी की बाधाये उत्पन्न नहीं होतीं । ☀ प्राणायाम के द्वारा विवेक ज्ञानावरण का क्षय होता है और विविध प्रकार की धारणा के लिए साधक मन की तैयारी करता है । प्रत्याहार के द्वारा समस्त इन्द्रियों पर साधक विजय प्राप्त करता है । = इस प्रकार इन लब्धियों के द्वारा साधक सर्वज्ञता को भी प्राप्त करता है । — योगदर्शन के विभूतिपाद में अनेक विभूतियों-लब्धियों का वर्णन किया गया है जिनमें कुछ विभूतियाँ ज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण ज्ञान विभूतियाँ कहलाती हैं तथा कुछ शरीर से सम्बन्धित होने के कारण शरीर सम्बन्धी कहलाती हैं । उन विभूतियों में से कुछ प्रमुख विभूतियाँ इस प्रकार से हैं—अतीतानागत ज्ञान, सर्वभूत हतज्ञान, परचित्त ज्ञान, पूर्वजाति ज्ञान, भुवन ज्ञान, तारा व्यूह ज्ञान, काव्यव्यूह ज्ञान, उपरान्त ज्ञान और सिद्ध दर्शनादि ज्ञान विभूतियाँ हैं तथा शारीरिक विभूतियाँ इस प्रकार से हैं—अन्तर्धान, पर-कायप्रवेश, आकाशगमन, हस्तिबल, रूपलावण्य, कायसम्पत्, क्षुत्पिपासानिवृत्ति और अणिमा, महिमा, लघिमा आदि का प्रादुर्भाव । ×

बौद्ध दर्शन में लब्धियाँ :-

बौद्ध परम्परा में लब्धियों का 'अभिज्ञा' नाम से उल्लेख किया

+ पातञ्जल योगदर्शन २/३५-३६-३७-३८-३९

☀ वही २/४०-४६

= वही २/४६-५३-५४

— वही ३/५, १६-१८, २६, ४०-४२, ४५, ४८, ५०

× पातञ्जल योग दर्शन, विभूतिपाद ।

ध्यान का लक्ष्य—लब्धियाँ एवम् भोक्ष (२३०)

गया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार अभिज्ञा अर्थात् लब्धियाँ दो प्रकार की हैं—१-लौकिक अभिज्ञा तथा २-लोकोत्तर अभिज्ञा। लौकिक अभिज्ञाओं के अन्तर्गत ऋद्धिविध, दिव्यस्रोत, चैतीपयेज्ञान-पूर्वनिवा सानुस्मृति एवं चित्तोत्पाद अभिज्ञाये हैं जिनसे आकाशगमन, पशु-पक्षी की बोलियों का ज्ञानादि होता है। जब साधक अर्हत् अवस्था को प्राप्त होकर फिर से साधारण लोगों के समक्ष निर्वाण मार्ग को बतलाने के लिए उपस्थित होता है तब उस साधक को लोकोत्तर अभिज्ञा की प्राप्ति होती है। यहाँ विभूतियों के दस प्रकार बतलाये गये हैं, जो कि इस प्रकार से हैं—१-अधिष्ठान, २-विकुर्वण, ३-मनोमया, ४-ज्ञानविस्फार, ५-समाधि विस्फार, ६-आर्य ऋद्धि, ७-कर्म विपाकजा, ८-पुण्यवती ऋद्धि, ९-विद्यामया ऋद्धि तथा १०-इज्जन्तणेन ऋद्धि।

जैन दर्शन में लब्धियाँ :—

वैदिक परम्परा एवं बौद्ध दर्शन की भाँति जैन योग में भी समाधि, तप एवं ध्यान के द्वारा अनेक प्रकार की लब्धियों की प्राप्ति करने का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। अङ्ग ग्रन्थों से लेकर योगशास्त्र और ज्ञानाणव तक इन लब्धियों का वर्णन स्पष्ट एवं विस्तृत रूप से किया गया है। ये अलग बात है कि विभिन्न ग्रन्थों में इनकी संख्या भी भिन्न-भिन्न है।

भगवती सूत्र में अनेक स्थलों पर लब्धियों का वर्णन किया गया है।— स्थानाङ्ग =, औपपातिक ×, प्रज्ञापना *, में भी लब्धियों का उल्लेख मिलता है। इनमें शारीरिक एवं मानसिक तथा आत्मिक सभी प्रकार की लब्धियों का वर्णन किया गया है।

+ विसुद्धिमगो, मगो १

☀ विसुद्धिमगो का इद्धि विध निद्देसो पृ० २६१ से २६५

— भगवती सूत्र ५/४/१८६, १४/७/५२१-५२२, ५/४/१६६, २/१०/१२०, ३/४/१६०, ३/५/१६१, १३/६/४६८

= स्थानाङ्ग २/२

× औपपातिक सूत्र २४

* प्रज्ञापना, पद ६, सूत्र १४४

[२३१] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जैन परम्परा में ज्ञान आदि शक्ति विशेष को लब्धि कहा गया है। जीव में संयम या संयामासंयम आदि को धारण करने वाली योग्यताएँ भी लब्धि कही जाती हैं। लब्धि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं कहीं तप विशेष से प्राप्त होने वाली सिद्धि को लब्धि कहा गया है +, तो कहीं ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि माना गया है।☀️ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र में जो जीव समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं।= इस प्रकार लब्धि के अर्थ भिन्न-भिन्न लिये गये हैं किन्तु ध्यान का मुख्य फल मोह विलय एवं गौण फल लब्धियों का प्राप्त करना है।

लब्धियों के प्रकार :-

लब्धियों की संख्या के बारे में विद्वान एक मत नहीं हैं। भगवती सूत्र में दस प्रकार की लब्धियाँ मानी गई हैं। — तो तिलोयपण्णत्ती में ६४ प्रकार की लब्धियों का उल्लेख मिलता है। * आवश्यकनियुक्ति ...में २८ प्रकार एवं षट्खण्डागम में ४४ प्रकार बतलाये गये हैं।△

+ तपोविशेषाद्दिष्ट प्राप्तिलब्धिः । सर्वार्थसिद्धि २/४७/१६७/८)

☀️ इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषोलब्धिः । यत्संनिधानादात्मा-द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रतिव्याप्रियते स ज्ञानावरण-क्षयोपशम विशेषोलब्धिरिति विज्ञायते ।

(षट्खण्डागम, ध. टी. १/१, १, ३३/२३६/५)

= धवला, ८/३, ४१/८६/३

— दसविधा लब्धी पण्णता, तंजहा-नाण लद्धी, दंसणलद्धी, चरित्रलद्धी, चरिताचरितलद्धी, दाणलद्धी, लाभलद्धी, भोगलद्धी, उपभोगलद्धी, वीरियलद्धी, इंदियलद्धी ।

(भगवती सूत्र ८/२)

* तिलोयपण्णत्ती, भाग १/४/१०६७-७१

.... आवश्यक नियुक्ति ६६-७०

△ षट्खण्डागम, खण्ड ४, १/६

ध्यान का लक्ष्य-लब्धियाँ एवम् मोक्ष (२३२)

विद्यानुशासन में ४८, मंत्रराजरहस्य + में ५०, प्रवचनसरो-
द्वार ☀ एवं विशेषावश्यकभाष्य — में २८-२८ लब्धियों का उल्लेख
मिलता है लेकिन इन लब्धियों के वर्गीकरण में भिन्नता पायी
जाती है ।

योगशास्त्र ... एवं ज्ञानार्णव × में लब्धियों का वर्णन चम-
त्कारिक शक्तियों के रूप में हुआ है । लब्धियों के प्रकार इस प्रकार
से हैं :-

१-आमोसहि-लब्धि :- (आमोसहि)-

जिस प्रकार से अमृत के स्नान करने से रोग नष्ट हो जाते हैं,
उसी प्रकार से लब्धि के प्रभाव से साधक के शरीर के स्पर्श मात्र से
रोगी स्वस्थ हो जाता है । यह योगविशेष से होने वाली दिव्य
शक्ति है ।

२-विप्रौषधि-लब्धि :- (विप्पोसहि)-

इस लब्धि के प्रभाव से योगी के मल मूत्र भी शौषधि का काम
करते हैं ।

+ श्रमण, वर्ष १९६५, अंक १-२, पृ० ७३

☀ प्रवचनसरोद्वार २७०, १४९२-१५०८

— आमोसहि विप्पोसहिखेलोसहि चैव ।

सव्वोसहि सभिन्ने ओहि रिउ विउलयइ लद्धी ।

चारण आसीविस केवलयगणहारिणो य पुव्वधरा ।

अरहन्त चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा य ॥

खीरमहुसप्पि आसव, कोट्टय बुद्धि पयाणुसारी य ।

तह बीयबुद्धि तेयग आहारग दीयलेसा य ॥

वे उव्वदेहलद्धी अक्खीण महाणसी पुलाया य ।

परिणाम तववसेण एमाई हुंति लद्धीओ ॥

(विशेषावश्यक भाष्य, १५०६-१५०९)

.... योगशास्त्र, प्रकाश ५-६

× ज्ञानार्णव, प्रकरण २६

[२३३] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

३-श्लेष्मौषधि : (खेलोसहि)-

इस लब्धि के प्रभाव से योगी का श्लेष्म यदि कुष्ठी के शरीर पर मला जाये तो उसका कुष्ठ रोग भी समाप्त हो जाता है ।

४-जल्लौषधि-लब्धि : (जल्लोसहि)-

इस लब्धि के प्रभाव से योगी के कान, मुख, नाक आदि के मूल से समस्त रक्त रोग समाप्त हो जाते हैं ।

५-संभिन्न श्रोत : (संभिन्न श्रोत)-

इस लब्धि के प्रभाव से योगी शरीर के प्रत्येक अङ्ग द्वारा सुनने में समर्थ हो जाता है अर्थात् एक ही इन्द्रिय से पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण किया जा सकता है ।

६-सर्वोषधि-लब्धि : (सर्वोसहि)-

इस लब्धि के द्वारा मलमूत्रादि, नख, केश आदि में सुगन्ध आती है और रोग उपशमन की शक्ति प्राप्त होती है ।

७-अवधि लब्धि:-

अवधिज्ञान-रूपी (रस, स्पर्श, गन्ध वाले) पदार्थों के भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों की पर्यायों को जानने की क्षमता योगी में आ जाती है ।

८-ऋजुमति-लब्धि :-

यह लब्धि मनःपर्यय ज्ञानी योगी को प्राप्त होती है, जिससे साधक दूसरों के मनों के भावों को जान लेता है ।

९-विपुलमति-लब्धि :-

यह लब्धि भी मनःपर्ययज्ञानी योगी को प्राप्त होती है, जिससे योगी संज्ञी जीवों के मन के भावों को सहजता से जान लेता है ।

१०-चारण लब्धि:-

इस लब्धि के दो प्रकार हैं-१- जंघा चरण तथा २-विद्या चारण इस लब्धि के द्वारा योगी को आकाश में गमनागमन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है । इस लब्धि को आकाशगामिनी लब्धि भी कहते हैं ।

११-आशीविश लब्धि :-

इस लब्धि के द्वारा योगी को शाप देने तथा अनुग्रह करने की शक्ति प्राप्त होती है ।

१२-केवल लब्धि :-

यह सर्वोत्कृष्ट लब्धि मानी जाती है । यह योगी को चार घातिया कर्मों अर्थात् दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय एवं अन्तराय कर्मों के क्षय होने से प्राप्त होती है । इस केवल-लब्धि का धारक तीनों लोकों और तीनों कालों के विषय में सभी बातों की जानकारी रखता है और तीनों लोकों को स्पष्ट देखता है और अनन्त सुख में रमण करता है ।

१२-गणधर-लब्धि :-

इस लब्धि के धारक योगी को गणधर पद की प्राप्ति होती है, जो तीर्थंकर के प्रधान शिष्य थे ।

१४-पूर्वधर-लब्धि:-

इस लब्धि के द्वारा साधक अन्तर्मुहूर्त में ही चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

१५-अहंत्-लब्धि :-

इस लब्धि के द्वारा साधक अहंत् पद को प्राप्त करता है ।

१६-चक्रवर्ती-लब्धि :-

इस लब्धि के माध्यम से मुनि को चौदह रत्न, नव निधान और छह खण्ड पृथ्वी के स्वामी पद अर्थात् चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है ।

१७-बलदेव-लब्धि :-

इस लब्धि से साधक बलदेव पद को प्राप्त करता है ।

१८-वासुदेव-लब्धि :-

इस लब्धि के द्वारा मुनि को वासुदेव पद की प्राप्ति होती है । वासुदेव तीन खण्ड पृथ्वी के स्वामी होते हैं, इसीलिए उन्हें अर्द्धचक्री कहा जाता है ।

[२३५] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

१९-क्षीरमधुसर्पिरास्राव-लब्धि:-

क्षीर का अर्थ है दूध, मधु का शहद और सर्पि का घी, अर्थात् इस लब्धि के धारक योगी के वचन दूध के समान मधुर, शहद के समान मीठे और घी के समान स्निग्ध अर्थात् सुनने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रिय लगते हैं ।

२०-कोष्ठक-लब्धि ::

इस लब्धि का धारक मुनि गुरुमुख से एक बार ही स्मृत, सुने हुए एवं पठित ज्ञान को कोष्ठागार में सुरक्षित अनाज की भाँति सुरक्षित कर लेता है तथा चिरकाल तक भी उन वचनों को नहीं भूलता ।

२१-पदानुसारिणी-लब्धि :-

इस लब्धि का स्वामी योगी एक पद को सुनकर ही उसके आगे-पीछे के पदों को जान लेता है ।

२२-बीजबुद्धि-लब्धि :-

सुने हुए ग्रन्थ का एक बीजाक्षर जानने से ही अश्रुत पद एवं अर्थों को जान लेना ही उस बीज बुद्धि-लब्धि का लक्षण है ।

२३-तेजोलब्धि :-

तेजोलब्धि से सम्पन्न साधक का तैजस शरीर इतना तीव्र एवं बलशाली हाता है कि वह अपने शरीर से तेजो लेश्या निकाल सकता है । दूरस्थ, सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थों को भस्म करने की शक्ति तेजो-लब्धि कहलाती है ।

२४-आहारक लब्धि:-

यह लब्धि पूर्वधर साधकों को प्राप्त होता है । जिन शासन की प्रभावना के लिए पराजय के क्षणों में अपने शरीर से अन्य शरीर का निर्माण करके श्रुतकेवली या तीर्थंकर के पास भेजकर तत्काल शंका का समाधान पाने की शक्ति को आहारक लब्धि कहा गया है ।

२५-शीतललेश्या लब्धि :-

अत्यन्त करुणा भाव से प्रेरित होकर तैजो लेश्या के कारण जलते हुए प्राणियों के प्रति करुणाशील होकर शीतल लेश्या को छोड़ना और

जलने से उनकी रक्षा करना इस लब्धि के गुण हैं। यह लब्धि तेजोलब्धि से विपरीत स्वभाव वाली होती है।

२६-वैक्रियलब्धि :-

इस लब्धि के प्रभाव से साधक अपने शरीर को छोटा-बड़ा, भारी-हल्का कर सकता है।

२७-अक्षीणमहानसलब्धि :-

इस लब्धि के द्वारा साधक एक साथ ही हजारों व्यक्तियों को एक पात्र में से ही भोजन करा सकता है। फिर भी उस पात्र का भोजन तब तक समाप्त नहीं होता है जब तक वह मुनि स्वयं भोजन न कर ले।

२८-पुलाक लब्धि :-

इस लब्धि की प्राप्ति करके अगर साधक चाहे तो वह चक्र-वर्ती सेना को भी पराजित कर सकता है लेकिन उसकी यह शक्ति अदृश्य होती है।

इन लब्धियों का विवेचन प्रवचनसारोद्धार के अनुसार किया गया है। इन लब्धियों को तीन भेदों में बाँटा गया है-१-ज्ञान लब्धियाँ, २-शरीर लब्धियाँ, तथा ३-पद लब्धियाँ। ज्ञान लब्धियों के अन्तर्गत अवधि लब्धि, ऋजुमति लब्धि, विपुलमति लब्धि, केवल लब्धि, कोष्ठक लब्धि, पदानुसारिणी लब्धि, तथा बीजबुद्धि लब्धि आती हैं।

शरीर लब्धियाँ इस प्रकार से हैं-आमोसहि, विप्पोसहि, खेलो-सहि, जल्लोसहि, सव्वोसहि, संभिन्नस्रोत, चारण लब्धि, आशीविष लब्धि, क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धि, तेजोलब्धि, आहारकलब्धि, शीतल-लेश्यालब्धि, वैक्रियलब्धि, अक्षीणमहानसलब्धि तथा पुलाकलब्धि।

पद लब्धियों के अन्तर्गत-गणधर लब्धि, पूर्वधर लब्धि, अर्हत् लब्धि, चक्रवर्ती लब्धि, बलदेव लब्धि, वामुदेव लब्धि आती है।

ये सभी लब्धियाँ योगी को संयम एवं साधना से ही प्राप्त होती हैं। जब भी योगी इन लब्धियों का प्रयोग करता है तभी जन साधारण को इनकी एवं योगी की सम्पन्नता का पता चलता है

(२३७) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

लेकिन इन लब्धियों के व्यामोह से योगी को दूर रहने को ही कहा गया है, क्योंकि योगी का लक्ष्य तो मोक्ष की प्राप्ति करना होता है। यदि कभी मजदूरी में योगी को इन लब्धियों का प्रयोग करना भी पड़ जाये तो उसको बाद में प्रायश्चित्त करना बेहद जरूरी है अन्यथा वह योगी साधक से विराधक बन जाता है। योगी को तप की साधना केवल कर्मों की निर्जरा के लिए ही करनी चाहिए, किसी भी लौकिक प्रयोजन के लिए नहीं करनी चाहिये। + लब्धियाँ मोक्ष की साधना में बाधक होती हैं। अतः इनकी प्राप्ति के लिए न तो साधना करनी चाहिये और न ही इनका प्रयोग

वैदिक परम्परा में कैवल्य :-

ऋग्वेद एवं ब्राह्मणों के अनुसार मानव का लक्ष्य धरती पर उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति और स्वर्ग के देवताओं के सामीप्य में सुखोपभोग है, ब्राह्मण यथाविधि यज्ञानुष्ठान करने वालों को विविध देवताओं के सामीप्य में आनन्द लाभ की आशा दिलाते हैं।

उपनिषदों, गीता, पुराणों, योगवाशिष्ठ एवं योगदर्शनादि वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है कि जब साधक अपने चित्त को पूरी तरह से शुद्ध कर लेता है तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष का वैदिक परम्परा में कैवल्य के नाम से भी वर्णन किया गया है। अमृतविन्दूपनिषद् में मन के अवरोध को मोक्ष का उपाय बतलाया गया है। — योग के अभ्यास से साधक को मुक्ति एवं ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया गया है। = मोक्ष की प्राप्ति के लिए मुनि को पहले कुण्डलिनी शक्ति को जगाना पड़ता है जिससे वह मोक्ष के द्वार

+ दशवैकालिक सूत्र ६/४

☀ योगशतक, ८३-८५

पातञ्जल योग सूत्र ३/३८-ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थानेसिद्धयः ।

— अमृतविन्दूपनिषद् १/५

— योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते । (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १६)

का भेदन करता है । ÷ महर्षि पतञ्जलि के अनुसार जीवात्मा का सृष्टि के साथ कर्ता एवं भोक्ता का सम्बन्ध, या पुरुष एवं प्रकृति का संयोग ही दुःख का कारण है..., एवं पुरुष व मन के संयोग का कारण अविद्या है × और इस अविद्या का बन्धन केवल योग के अनेक उपायों में से ही टूटता है । जब मुनि अपनी सभी वासनाओं एवं कर्मों की निर्जरा या क्षय कर देते हैं तब उनको कैवल्य की प्राप्ति होती है । * यह कैवल्य वाणी एवं मन से अगोचर है । Δ अभीष्टित मोक्ष तो जीव और ब्रह्म 卐 के एक्य को समझ लेने पर इसी जीवन में मिल जाता है, जो इस बात को जान लेता है कि 'मैं तो ब्रह्म हूँ' ब्रह्माण्ड बन जाता है । स्वयं देवता भी ऐसा बन जाने से नहीं रोक सकते, क्योंकि वही तो इस विश्व की आत्मा है । + अथवा फिर मुण्डक ☀ के शब्दों में 'जो परब्रह्म को जान लेता है वही स्वयं ब्रह्म बन जाता है ।' इस तथ्य का निराज्ञान ही मोक्ष है, ऐसा योगी सब प्रकार की ईहा एवं एषणाओं से परे पहुँच जाता है, उसके पुण्य एवं पापों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

बौद्ध परम्परा में निर्वाण :-

बौद्ध मत में यह जगत् एक कोरी यन्त्रणा है, और मानव का परम पुरुषार्थ उस इच्छा को नष्ट करके, जो कि उसे एक जन्म

÷ (क) ध्यानविन्दूपनिषद् ६५-६६

(ख) योगचूडामण्युपनिषद् ३६-४४

...योगदर्शन २/१७

× तस्यहेतुरविद्या । (योगदर्शन २/२४)

* वासना प्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते । विवेकचूडामणि ३१८)

Δ यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ॥ । तैत्तिरीयोप-
निषद् २/४/१)

卐 गौडपाद : माण्डूक्य कारिका ४.६८

+ वृहदारण्यक उपनिषद् १/४/१०

☀ वही ३/२/६

(२३६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

से दूसरे जन्म के चक्कर में फँसाये रखती है इस यन्त्रणा से छुटकारा पा लेना है। बौद्ध दर्शन में मोक्ष या कैवल्य को ही निर्वाण की उपाधि दी गई है वहाँ कर्मों को मनुष्य की छाया के समान बतलाते हुए संसार की जड़ कहा है। + क्योंकि कर्मों से विपाक प्रवर्तित होता है और स्वयं विपाक कर्म सम्भव है और कर्म से ही संसार चक्र प्रारम्भ होता है। ☀ बौद्ध योग के अनुसार निर्वाण एक आध्यात्मिक अनुभव है, जिसकी प्राप्ति के लिए चित्त की शुद्धि बहुत जरूरी है क्योंकि चित्त की शुद्धि ही निर्वाण कहलाती है। = जब साधक निर्वाण की अवस्था में पहुँच जाता है तब उसके चित्त में मल नहीं रहता और यही कारण है कि जब योगी इस अवस्था में पहुँच जाता है तब उसे किसी की भी आकांक्षा नहीं रहती और उसे संसार में लौटने का कोई भय नहीं रहता वह परम सुख को प्राप्त कर लेता है। —

मिलिन्दप्रश्न के अनुसार निर्वाण का स्वरूप इस प्रकार से कहा गया है कि—तृष्णा के निरोध से उपादान का, उपादान के निरोध से बूढ़ा होना, मरना, शोक, दुःख, बेचैनी, परेशानी आदि सभी प्रकार के दुःख समाप्त हो जाते हैं। ✳ तृष्णा, राग-द्वेष, मोह आदि संसार की जड़ तथा योगी के मन को चंचल बनाने के कारण हैं, जिनसे विविध प्रकार के कर्मों का आस्रव होता है। जब योगी राग-द्वेष मोह आदि का नाश कर देता है तो यही अवस्था निर्वाण कहलाती है। निर्वाण की अवस्था में दुःख लेशमात्र भी नहीं रहता Δ, बल्कि वह स्थिति आनन्द की या सुख की पराकाष्ठा में पहुँच जाती

+ मिलिन्द प्रश्न ३/२/१६

☀ कम्मा विपाका वतन्ति विपाको कम्म सम्भवो ।

कम्मा पुनम्भवो होति एवं लोको पवत्ततीति ॥ (विसुद्धिमग्ग)

= विसुद्धीति सब्बमलविरहितं अच्चन्तपरिसुद्ध निब्बानं वेदितव्यं ।

(वही १/१५)

— निब्बानं परमं सुखं । (धम्मपद १५/८)

✳ मिलिन्द प्रश्न, पृ० ८५

.... छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बानामेहिसि । (धम्मपद २५/१०)

Δ मिलिन्द प्रश्न, पृ० ३८६

है। यह स्थिति केवल मन के द्वारा ही की जा सकती है, यह इन्द्रियों काल आदि से नहीं जानी जा सकती। X

जैन परम्परा में मोक्ष :

वैसे तो सभी सम्प्रदायों में मोक्ष को बहुत ही महत्व दिया है लेकिन जैन परम्परा में मोक्ष का स्थान सर्वोपरि माना गया है। साधक आत्मविकास की सीढ़ियों को क्रमशः पार करता हुआ जब आत्म स्वरूप को पूरी तरह से पहचान लेता है और आत्म विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तब उसकी वह स्थिति मोक्ष ही है। मनुष्य की योनि में ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है। बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। * साधक जब आत्मा एव बन्ध को अलग-अलग कर देता है तो वही मोक्ष कहलाता है। + जब बन्धावस्था को प्राप्त जीव और कर्मों के प्रदेश सदा के लिए एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं अर्थात् किसी भी कर्म का आत्मा के साथ किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रह पाता तो यही मोक्ष की अवस्था है। ... आत्मा कर्ममल, रागद्वेष, मोह और शरीर को जब अपने से हमेशा के लिए विलग कर लेती है, तब उसे ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप जो विलक्षण अवस्था प्राप्त होती है वह

X वही पृ० ३३२

* (क) बन्ध हेत्वाभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।
(तत्त्वार्थ सूत्र १०/२)

(ख) राजवार्तिक १/४/२०/२७/११

(ग) आप्तपरीक्षा ११६

(घ) मोक्षः कर्मक्षयो नाम भोग संक्लेश वर्णितः [पूर्वसेवाद्वा-
त्रिंशिका, २२]

(ङ.) स्याद्वादमंजरी २७/३०२

+ आत्मबन्धयोद्विधाकरणं मोक्षः। (समयसार, आ० २८८)

... आत्यन्तिक-स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीव-कर्मणोः।

स मोक्ष फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिकाः गुणाः॥ [तत्त्वानुशासन
२३०]

(२४१) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

मोक्ष कहलाती है ।+ जब आत्मा का चतुर्गतियों में भ्रमणमरुक जाता है तब समस्त कर्मों का आवागमन रुक जाता है और आत्मा स्वभावतः निजस्वरूप में स्थित हो जाती है ।☀ संवर के द्वारा आत्मा में नये कर्मों का प्रवेश तक रुक जाता है और निर्जरा से इकट्ठे हुए कर्मों का पूरी तरह से क्षय हो जाता है । तब आत्मा अनन्त सुख का अनुभव करती है ।

जैन आचार्यों ने मोक्ष के अनेक भेद किये हैं । आचार्य शुभचन्द्र ने व्यतिरेक, अन्वय एवं सुख की प्रधानता से मोक्ष को तीन प्रकार का माना है ।— जबकि देवसेनाचार्य ने द्रव्य एवं भाव के भेद से उसे दो प्रकार वाला कहा है ।= धवला में भी मोक्ष के तीन भेद कहे गये हैं ।× १-जीव मोक्ष, २-पुद्गल मोक्ष एवं ३-जीव पुद्गल मोक्ष । सामान्यतः मोक्ष एक ही प्रकार का होता है,

+ (क) निःशेष कर्मसम्बन्ध परिविध्वंसलक्षणः ।

जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः ॥ [ज्ञानार्णव ३/६]

(ख) निखशेषनिराकृत कर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्य-स्वाभाविक ज्ञानादिगुणमव्याबाध सुखात्म्यान्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति ।

[सर्वार्थसिद्धि १/१ की उत्थानिका १/८]

(ग)निर्विकल्प समाधिस्थानां परम योगिनां रागादिरहितत्वेन स्वसंवेद्यमात्मसुखं तद्विशेषेणातीन्द्रियम् ॥

(वृहद्द्रव्यसंग्रह, टी० ३७/१५४/५]

(घ) परमात्मप्रकाश, मूल २/१०

☀ भणिदे मणुवावारे भमंति भूयाइ तैसु रायादी ।

ताण विरामे विरमदि सुचिरं अप्पा सरूवम्मि ॥ (ज्ञानसार ४६)

— ज्ञानार्णव ३/६-८

= तं मुखं अविस्त्रं दुविहं खलु ढव्वभावगदं । (नयचक्र वृहद् १५६)

× सो मोक्खो तिविहो-जीव मोक्खो पोग्गलमोक्खो जीवपोग्गल मोक्खो चेदि ।

(धवला १३/५/५/८३/४८/१)

द्रव्य, भाव और भोक्तव्य की दृष्टि से अनेक प्रकार का है । +

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग की प्रवृत्ति ये सब संसार के बन्धन के कारण माने गये हैं और इन्हीं कारणों के कारण जीव अपनी विवेक शक्ति को खो देता है और संसार की सभी वस्तुओं को भ्रान्तिवश अपनी समझने लगता है उसकी यही अवस्था संसार में भ्रमण करने का कारण है । मोहनीय कर्म के क्षय से एवं ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के क्षय से जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है । ☀ जैनाचार्यों ने केवलज्ञान की इस अवस्था को जीव की अरिहन्त दशा माना है । इस अरिहन्त अवस्था में मन, वचन एवं काय के योग में से सूक्ष्म काय योग का व्यापार चलता रहता है । तेरहवें गुणस्थान वाले इस ध्यान में श्वास क्रिया के शेष रहने के कारण जीव को केवलज्ञान की ही प्राप्ति होती है लेकिन मुक्ति नहीं होती । = मुक्ति प्राप्त करने के लिए उसे चारों धातिया कर्मों का क्षय करना पड़ता है और उसी जो श्वास प्रश्वास की क्रिया है उसका भी निरोध करना पड़ता है तब उसकी आत्मा के प्रदेशों में किसी भी प्रकार की हलचल शेष नहीं रहती वह अयोग केवली अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।— मोक्ष को प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र्य की एकरूप परिपूर्णता जरूरी होती है । × मोक्ष कर्मों के क्षय से ही होता है । कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से ही होता है और सम्यग्ज्ञान

+ सामान्यादेको मोक्षः द्रव्य भावभोक्तव्य भेदादनेकोऽपि ।

(राजवार्तिक १/७/१४/४०/४२)

☀ मोहक्षयाज्ज्ञानदशनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । (तत्त्वार्थ-सूत्र १०/१)

= बृहद्द्रव्यसंग्रह, टी. ४८/२००

— ध्यानशतक, विवेचन, ८२/४४

× (क) सम्यग्ज्ञानादिकं प्राहुजिना मुक्तेनिबन्धनम् ।

तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभिः स्फुटम् ॥ (ज्ञानार्णव ३/११)

(ख) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि मोक्षमार्गः । (तत्त्वार्थसूत्र १/१)

[२४३] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

ध्यान के द्वारा ही सिद्ध होता है। ज्ञान की एकाग्रता ध्यान से ही सिद्ध होती है। इसलिए ध्यान ही आत्मा का हित माना गया है। + आत्मा स्वयं ही कर्ता-धर्ता एवं गुरु होती है। * सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर आत्मा स्वयं ही सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाती है तथा एक क्षण में ऊर्ध्वगमन कर लोकशिखर के अग्रभाग में पहुँच जाती है। ☀ जहाँ किसी भी प्रकार का राग भाव नहीं रहता। = वहाँ आत्मा हमेशा समता भाव से परमानन्द का अनुभव करती हुई अचल रहती है। — मुक्तावस्था में होने के कारण कर्मों के द्वारा आत्मा का शरीर निर्माण नहीं होता, लेकिन मुक्तात्मा का आकार प्रायः उस शरीर ही जितना रह जाता है जिसे त्यागकर वह मुक्त हुआ है और वह देह के प्रतिबिम्ब रूप रुचिराकार ही होता है। Δ

+ मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानातः स्मृतः ।

ध्यानसाध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमार्त्मनः ॥ (ज्ञानार्णव ३/१३)

* नयत्यात्मानमात्मेव जन्म निर्वाणमेव च ।

गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥ (समाधि तन्त्र ७५)

☀ (क) कर्म-बन्धन विध्वंसादूर्ध्वत्रय्या-स्वभावतः ।

क्षणैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥ (तत्त्वानुशासन २३१)

(ख) तदन्तरं मूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् । (तत्त्वार्थ सूत्र १०/५)

= द्वेषस्याभावरूपत्वाद् द्वेषश्चैक एव हि ।

रागात् क्षिप्रं त्रमाच्चातः परमानन्दसंभवः ॥ (पूर्वसेवाद्वात्रिंशिक ३२)

— मुक्त्युपायेषु नो चेष्टारुल्लयायैव यत्ततः। (मुक्त्यद्वेषप्राधान्यद्वात्रिंशिका १)

.... शरीरं न सं गृह्णाति भूयः कर्म व्यपायतः ।

कारणख्यात्यये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति ॥ [योगसारप्राभृत ७/१६]

Δ (क) पुसः संहार-विस्तारौ संसारे कर्म निर्मितौ ।

मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्वेतु-कर्मणाम् ॥

ततः सोऽनन्तर-त्यक्त-स्वशरीर-प्रमाणतः ॥

किंचिद्नस्तदाकारस्तत्रास्ते स्व-गुणात्मकः ॥ [तत्त्वानुशासन २३२-३३]

(ख) अन्याकारापत्तिहेतुर्न च भवति परो येन तेनाऽल्पहीनः ।

प्रागात्मोपात्तदेहप्रतिकृतिरुचिराकार एवं ह्यमूर्तः ॥ (सि. म. पूज्यपादः तत्त्वानुशासन पृ० १६५)

एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि आत्मा जब तक संसार के बन्धन में रहती है तब तक वह नाम कर्म के उदय के कारण संकोच-विस्तार शरीर धारण करती है और मुक्त हो जाने पर अशरीरी बन जाती है लेकिन आत्मा जिस अन्तिम शरीर के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करती है, उसका १/३ भाग अर्थात् मुख, नाक, पेट खाली अङ्ग होते हैं, बाकी २/३ भाग में उस जीवात्मा के उतने प्रदेश उस सिद्ध स्थान में व्याप्त हो जाते हैं, जिसे अवगाहना कहते हैं।
 प्रत्येक जीव का अपना अस्तित्व होता है। ऐसी ही आत्मा संसार में दुबारा नहीं आती क्योंकि वह वीतराग, वीतमोह और वीतद्वेष होती है। एक दीपक के प्रकाश में जैसे अनेकों दीपकों का प्रकाश समा जाता है, उसी प्रकार एक सिद्ध में अनेक सिद्धों को अवकाश देने की जगह होती है। सिद्धों में लोहे के गोले के समान नीचे आने को विवश गुरुता का और वायु से प्रेरित भाक की रूई की तरह हल्का, लघु गुण भी होता है जिसे 'अगुरुलघुगुण' भी कहते हैं। +

इस प्रकार सिद्धात्मा शरीर, इन्द्रिय, मनविकल्प एवं कर्मों से रहित होकर अनन्त वीर्य को प्राप्त होता है और नित्य आनन्दस्वरूप में लीन हो जाता है।

कर्मबन्ध का क्रम अवरुद्ध होने पर आत्मा अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष एवं अभिनिवेशरूप क्लेशों के क्षीण हो जाने पर, विघ्नबाधाओं

उत्तराध्ययन सूत्र ३६/६४

+ एकदीपप्रकाशो नानादीपप्रकाशवदेकसिद्धक्षेत्रे सङ्करव्यतिकर दोष परिहारेणानन्तसिद्धावकाशदान सामर्थ्यमवगाहनगुणो भण्यते । यदि सर्वथा गुरुत्वं भवति तदा लोहपिण्डवदधः पतनं, यदि च सर्वथा लघुत्वं भवति तदा वाताहतातूर्कलवत्सर्वदैव भ्रमणमेव स्यान्न च तथा तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते ।

(बृहद्द्रव्यसंग्रह, टी. १४/४२/४)

निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरंजनः ।

अनन्तवीर्यतापशो नित्यानन्दाभिनन्दितः ॥ (ज्ञानार्णव ४२/७३)

[२४५] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

से रहित, शाश्वत आनन्द से युक्त मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेती है। + इस सिद्धावस्था में आत्मा निद्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीड़ा, शोक, मोह, जरा, जन्म, मरण, क्षुधा, खेद, उन्माद, मूर्च्छा आदि से रहित हो जाती है तथा आत्मा में न तो वृद्धि होती है और न ही ह्रास। ☀ मुक्तात्मा के द्वारा जो आनन्द अनुभव किया जाता है वह अनिर्वचनीय है।

योग परम्परा में सिद्ध आत्मा को अनेक नामों से पुकारा गया है। ब्राह्मणों ने उस सिद्धात्म को ब्रह्म कहा है, वैष्णवों ने विष्णु, तापसों ने रुद्र और जैन, बौद्ध एवं कौलिक आदि ने उसे क्रमशः जिनेन्द्र, बुद्ध एवं कौल कहा है। × चाहे इस सिद्धावस्था को अर्थात् निर्वाण को किसी भी नाम से किसी भी रूप में जाना जाये वह अनेक नामों वाला होकर भी एक ही तत्त्व का बोध कराता है। *

इस प्रकार से हम देखते हैं कि जो भी सार पदार्थ है वह मोक्ष है और ध्यान की आराधना के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध-विच्छेद रूप अभाव का नाम मोक्ष है। कर्मों का यह अभाव ध्याग्नि से उन्हें जलाने के द्वारा बनता है।

+ एकान्तक्षीणसंकलेशो निष्ठितार्थस्ततश्च सः ।

निराबाधः सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठते ॥ (योगबिन्दु ५०४)

☀ निद्रातन्द्राभयभ्रान्तिरागद्वेषात्तिसंशयैः ।

शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्युतः ॥

क्षुत्तृश्रममदोन्मादमूर्च्छामात्सर्यवर्जितः ।

वृद्धिह्रासव्यतीतात्मा कल्पनातीतवैक्षवः ॥ (ज्ञानार्णव ४२/७१-७२)

× ब्राह्मणैर्लक्ष्यते ब्रह्मा विष्णुः पीताम्बरैस्तथा ।

रुद्रस्तपस्विभिर्दृष्ट एष एव निरंजनः ॥

जिनेन्द्रो जल्प्यते जैनैः बुद्धः कृत्वा च सौगतैः ।

कौलिकैः कौल आख्यातः स एवायं सनातनः ॥ (योगप्रदीप ३३/३४)

* संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम् ।

यद्येकमेव नियमात् शब्दभेदऽपि तत्त्वतः ॥ (योगदृष्टि समुच्चय

१२८)

दशम परिच्छेद

उपसंहार

विश्व के सभी धर्मों का मूल स्रोत एक ही रहा है। सद्धर्म वही है जो मानव को दुःखों से मुक्त करके उसे निर्मल आनन्द स्वरूप प्रदान करे। मूल सद्धर्म के ही मूल आधार तत्वों को लेकर विभिन्न सम्प्रदाय परिपुष्ट हुए हैं। भारत के लब्ध प्रतिष्ठित वैदिक, बौद्ध एवं जैन-इन तीनों प्राचीन धर्मों का समान रूप से एक मौलिक सिद्धान्त है कि मानव जीवन का अन्तिम साध्य उसके आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता और उससे प्राप्त होने वाला परम कैवल्य या मोक्ष है। आत्म विकास के लिए ध्यान योग एक प्रमुख साधना है। भारतीय संस्कृति के समस्त बिचारकों, तत्त्व-चिन्तकों एवं मननशील ऋषि मुनियों ने योग-साधना के महत्त्व को स्वीकार किया है।

वैदिक परम्परा में 'योग' शब्द का 'समाधि' एवं 'तप' के रूप में प्रयोग हुआ है लेकिन उपनिषदों में ध्यान का प्रचुर मात्रा में उल्लेख किया गया वहाँ ध्यान के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति का निर्देश दिया गया है। ध्यान के द्वारा चित्त एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जाता है। गीता में भी भक्ति योग, ज्ञान योग एवं कर्मयोग के साथ ध्यान योग के महत्त्व को बतलाया गया है। बौद्ध योग में भी ध्यान की अनेक क्रियाओं के विषय में बतलाया गया है। बौद्ध परम्परा में तो ध्यान का इतना महत्त्व बढ़ा कि वहाँ एक सम्प्रदाय 'ध्यान सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात हुआ।

जैन परम्परा में तो 'ध्यान' का एक विशिष्ट एवं उच्च स्थान है। वहाँ ध्यान का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। यहाँ ध्यान के पर्याय रूप में तप, समाधि, धीरोध, समरसीभाव एवं सबीर्यध्यान आदि का वर्णन किया गया है। चित्त को किसी भी एक विषय पर केन्द्रित करना अथवा मन, वचन एवं चित्त के निरोध को ध्यान कहते हैं। ध्यान को चार प्रकारों का बतलाते हुए उसे दो भागों में विभक्त किया गया है, जो कि अप्रशस्त ध्यान एवं प्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत आते हैं। अप्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत आर्त्त ध्यान एवं रौद्र ध्यान आते हैं, जिन्हें अशुभ ध्यान भी कहा जाता है। आर्त्त ध्यान

(२४७) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

एव रौद्र ध्यान संभार बन्धन के हेतु माने गये हैं, जो कि दुखों से व्याप्त एवं समस्त क्लेशों से भरे हुए हैं। उत्कृष्ट दुखों को देने वाली नरक गति ही इन ध्यानों का फल है। इन दोनों ध्यानों के चार-चार प्रभेद भी बतलाये गये हैं। प्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत धर्म्य ध्यान एवं शुक्ल ध्यान आते हैं जो कि शुभ ध्यान होते हैं। धर्म ध्यान तो आत्म विकास की प्रथम सीढ़ी है। इससे साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है और आत्मज्ञान को प्राप्त करके वह अपने कर्मों को क्षीण कर लेता है। जब साधक अपने कर्मों को निर्जरा कर देता है तो अन्त में उसे मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

साधक जब ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तब उसे शुक्ल ध्यान होता है। शुक्ल ध्यान 'ध्यान योग' की सर्वोत्तम अवस्था मानी गई है। धर्म ध्यान को करते हुए साधक शुक्ल ध्यान की अवस्था में पहुँचता है। शुक्ल ध्यान में ही वित्त का निरोध पूर्ण रूप से हो जाता है। साधक के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है और मन आत्मा की सत्ता में विलय हो जाता है। इस ध्यान का फल मोक्ष है। धर्म एवं शुक्ल के भी चार-चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। शुक्ल ध्यान के प्रथम को दो ध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितक-विचार एवं एकत्ववितक-विचार शुक्ल ध्यान, बौद्ध एवं पतञ्जलि के योगदर्शन से मिलते-जुलते हैं। बौद्ध योग में बतलाये गये ध्यान के भेदों में वितक एवं विचार ध्यान बतलाया गया है। सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान एवं वैदिक योग परम्परा में प्रयुक्त अध्यात्म प्रसाद और ऋतंभरा में अर्थ साम्यता मालूम पड़ती है। पतञ्जलि के योगदर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि का उल्लेख किया गया है, जो कि शुक्ल ध्यान के अन्तिम भेद अर्थात् समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती से मिलती-जुलती है। इस अवस्था में साधक की श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया भी खत्म हो जाती है और वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इस अवस्था को अर्हन्त अवस्था भी कहते हैं एवं साधक को अयोग केवली कहते हैं।

वैदिक, जैन एवं बौद्ध इन तीनों परम्पराओं में ध्यान का उद्देश्य आत्मा की पहचान करना है। आत्मा से मुक्ति अथवा मोक्ष

की प्राप्ति एकदम नहीं होती बल्कि धीरे-धीरे कर्मों के क्षय होने पर होती है। जैसे-जैसे साधक का आत्मिक विकास होता है, वैसे-वैसे ही वह जीवन्मुक्ति के करीब पहुँचने लगता है।

जैन ध्यान परम्परा की सामान्य विशेषताये :-

जैन ध्यान परम्परा की सामान्य विशेषताओं को संक्षेप में निम्न-लिखित रूप से व्यक्त किया जा सकता है :-

सदाचार पर बल :-

जैन परम्परा में सदाचार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है :-

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिदिदुत्ठो ।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

चारित्र ही धर्म है। धर्म वह है जो समभाव शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। समभाव मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की निर्मल परिणति का नाम है। इसी निर्मल परिणति की प्राप्ति होना ध्यान का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु जैन धर्म में भावकों के लिए पच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत, सप्तव्यसन का त्याग, अष्टमूलगुण का धारण तथा षडावश्यकों के पालन का उपदेश दिया गया है। मुनि के लिए पंचमहाव्रत, तीन गुणितियाँ, पाँच समितियाँ, दस धर्म, परीषह जय एव चारित्र का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार आचरण की साधना के द्वारा परमात्मत्व अथवा मोक्ष की उपलब्धि का मार्ग सुगम होता है तथा लौकिक जीवन में भी नैतिकता की प्रतिष्ठा होती है।

संयम का पालन :-

भले प्रकार प्रवृत्ति करने को संयम कहते हैं। संयम का पालन करने वाला व्यक्ति पाँच इन्द्रियों और मन का निरोध करता है तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव को किसी भी प्रकार की पीड़ान हो इस प्रकार का प्रयत्न करता है। संयम को रत्न कहा गया है। जिस प्रकार रत्न की सुरक्षा बड़े यत्न से की जाती है उसी प्रकार संयम की सुरक्षा बड़े यत्न से की जाती है। संयम से अनेक जन्मों में संचित पाप नष्ट हो

(२४६) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जाते हैं। यह संयम स्वर्ग नरक और पशु गति में नहीं है। यह बालस्य को हरने वाला और सुख का कर्ता कहा जाता है।

तप :-

तप शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ शास्त्रकारों ने दी हैं—१—तप्यते इति तपः। २—इच्छानिरोधस्तपः। ३—कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः। जो तपा जाये उसे तप कहते हैं। इस प्रकार का तप प्रत्येक सांसारिक जीव के होता है, क्योंकि जीवन निर्वाह के लिए व्यक्ति कुछ न कुछ कठिन श्रम करता ही है किन्तु कर्मों के क्षय के लिए इन्द्रिय और विषयों का परिहार करते हुए प्राणि पीड़ा से दूर रहते हुए दूसरे के अनुग्रह की बुद्धि से जो तप किया जाता है वही सार्थक है। इससे ही कर्मों का क्षय होता है। एक स्थान पर कहा गया है :-

अपत्यवित्तोत्तर लोक तृष्णया तपस्विनः केचन् कमं कुर्वते।

भवान् पुनः जन्मजरा जिहासया त्रयी प्रवृत्तिं समधीरनारुणत्।

कुछ लोग सन्तान के अर्थ तप की साधना करते हैं, कुछ लोग धन के लिए तप तपते हैं, कुछ लोग परलोक में सुख की प्राप्ति के लिए तप करते हैं, किन्तु हे भगवन् ! आप जन्म जरा और मरण का क्षय करने के लिए तप करते हैं : तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—“तपसा निर्जरा च” अर्थात् तप से संवर (कर्मों के आने का रुकना) तथा निर्जरा (कर्मों का आंशिक क्षय) होता है। आंशिक रूप से कर्म क्षय होते-होते मोक्ष की उपलब्धि होती है इस प्रकार तप की बड़ी सार्थकता है। यह तप ध्यान में लवलीन हुए बिना नहीं हो सकता। इसीलिए तप के बारह भेदों (छह बाह्य तप—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्तशय्यासन, काय-व्लेश एवं आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान) में ध्यान को अन्तिम स्थान दिया गया है क्योंकि तप की चरमपरिणति ध्यान में होती है।

अकिञ्चनत्व की भावना :-

जैन धर्म में अकिञ्चनत्व की भावना पर बड़ा जोर दिया गया है। आचार्य पूज्यनाद ने कहा है:-

अकिञ्चनोऽहं इति आस्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत् ।

योगिगम्यम् तवप्रोक्तम् रहस्यं परमात्मनः ॥

अर्थात् मैं अकिञ्चन हूँ इस प्रकार की भावना करना चाहिए क्योंकि इससे तीनों लोकों के अधिपतित्व की प्राप्ति होती है । तुझ परमात्मा का जो रहस्य है वह योगिगम्य है । यथार्थ में जिसकी शरीर के साथ में भी एकता नहीं है उसकी पुत्र कलत्रादि के प्रति एकता कैसे हो सकती है । चर्म के अलग कर देने पर शरीर में रोमकूप की स्थिति वहाँ रह सकती है । तात्पर्य यह है कि यह भावना रखनी चाहिए कि एक आत्मा को छोड़कर मेरा संसार में कुछ भी नहीं है । इस प्रकार की भावना पूर्वक समस्त पर वस्तुओं यहाँ तक कि रागद्वेषादि का भी जब परित्याग कर दिया जाता है, तो अकिञ्चनत्व की प्राप्ति होती है ।

गुणस्थान :-

साधक जब आत्म विकास के विभिन्न सोपानों को क्रमशः पार करता हुआ आत्मोन्नति की ओर जब अग्रसर होता है तो उसकी इस अवस्था को जैनागम में गुणस्थान नाम से कहा गया है । किस गुणस्थान में कौन सा ध्यान होता है यह विवरण भी आगम में उपलब्ध होता है । अन्त में गुणस्थानातीत अवस्था होती है जो चरम साक्ष्य है ।

अनुप्रेक्षा :-

साधक को आत्मोन्नति के लिए संसार शरीर और भोगों के स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये । इसे ही जैन परिभाषा में अनुप्रेक्षा कहा गया है । अनुप्रेक्षा से संसार का स्वरूप यथार्थ रूप में सामने आ जाता है । तब साधक अपने कर्त्तव्य कर्म का निश्चय करता हुआ आगे बढ़ता है । ये अनुप्रेक्षाये द्वादश कही गयी हैं- १-अनित्य, २-अशरण, ३-संसार, ४-एकत्व, ५-अन्यत्व, ६-अशुचि, ७-आस्त्रव, ८-संवर, ९-निर्जरा, १०-लोक, ११-बोधि दुर्लभ तथा १२-धर्म स्वाख्यात तत्त्व । इनका विस्तृत विवरण दिया जा चुका है ।

(२५१) जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन

मोह क्षय :

मोह को सब कर्मों का राजा कहा गया है क्योंकि मोह की स्थिति सबसे उत्कृष्ट दत्तलायी गयी है। जिस प्रकार राजा पर विजय प्राप्त होने पर सेना अपने आप विजित हो जाती है उसी प्रकार मोह के पराजित हो जाने पर समस्त कर्मों की सेना अपने आप पराजित हो जाती है। आचार्य पूज्यपाद ने मोह की शक्ति के विषय में कहा है—

मोहेन संवृत्तं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।

मत्तः पुमान् पदार्थानाम् यथा मदन कोद्रवैः ॥

मोह से ढका हुआ ज्ञान स्वभाव की उपलब्धि नहीं कर सकता है। जिस प्रकार मदन कोद्रव का सेवन कर कोई व्यक्ति मदमत्त हो जाता है। ध्यान के लिए मोह दूर होना आवश्यक है। मोह का आवरण दूर हो जाने पर केवलज्ञान की उपलब्धि हो जाती है जो जीव-न्मुक्त जैसी स्थिति है। मोह को गाढ़ अन्धकार की उपमा दी गयी है, जिस प्रकार गाढ़ अन्धकार में पदार्थों का अवलोकन नहीं होता उसी प्रकार मोह के कारण पदार्थ का सम्यक् अवलोकन नहीं हो पाता है। अतः जैन धर्म में स्थान-स्वान पर मोह को दूर करने का उपदेश दिया गया है।

अतीन्द्रिय आनन्द की उपलब्धि :

संसार में सभी व्यक्ति सुख अथवा आनन्द की उपलब्धि करना चाहते हैं। यह आनन्द इन्द्रिय सुख में नहीं है क्योंकि वह नष्ट होने वाला है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

सपरं बाधासहियं विच्छिन्नं बंधकारणं विषमं ।

जं इन्दिएहि लद्धं तं सव्वं दुक्खमेव तथा ।

जो पर की अपेक्षा रखता है, बाधा सहित है, नष्ट हो जाने वाला है, बन्ध का कारण है और विषम है ऐसा इन्द्रियजन्य सुख वास्तव में दुःख ही है।

योगीजन इस ऐन्द्रियिक सुख का परित्याग कर अतीन्द्रिय सुख की उपलब्धि करना चाहते हैं। ध्यान के द्वारा अतीन्द्रिय सुख की

प्राप्ति होती है, जिसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं जो बाधा रहित तथा अविनश्वर है एवं बन्ध का कारण नहीं है। यह सुख ध्यान के द्वारा निज में लीन होने से ही होता है। कहा है-

यों चिन्त्य निज में थिर भये फिर अकथ जो आनन्द लहो।

सो इन्द्रमाहि नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाही कहो ॥

निज में स्थिर हो पर जो परम आह्लादरूप सुख की उपलब्धि होती है, वह इन्द्र, अथवा अहमिन्द्र के नहीं हो सकती है।

इसी अतीन्द्रिय आनन्द की खोज भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य है।

सहायक ग्रन्थ सूची

- १-अंगुत्तरनिकाय-प्रथम भाग, प्रकाशक महाबोधि सभा, कलकत्ता ।
- २-अथर्ववेद- आक्सफोर्स प्रेस, लन्दन ।
- ३-अध्यात्म परीक्षा-
- ४-अध्यात्म रहस्य-जुगल किशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली ।
- ५-अध्यात्मसार-यशोविजय, केशर बाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर ।
- ६-अनगारधर्मावृत्त-
- ७-अमरौध शासन-
- ८-अमित गति श्रावकाचार-
- ९-अमृतनादोपनिषद्- गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- १०-अमृतबिन्दूपनिषद्- प्रकाशक पाण्डुरंग जावजी बम्बई ।
- ११-अभिधान चिन्तामणि-हेमचन्द्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सूरत । सन् १९४६
- १२-आचाराङ्क सूत्रम्-अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थापक जैन शास्त्रोद्धार समिति सन् १९५७
- १३-आत्म प्रबोध-
- १४-आत्मानुशासन-गुणभद्र, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।
- १५-आदिपुराण-भाग १-जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
- १६-आप्त परीक्षा-मुनि विद्यानन्द, प्रकाशक जैन साहित्य प्रसारक सभा बम्बई ।
- १७-आध्यात्मिक विकास क्रम-पं. सुखलाल संघवी, गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद ।
- १८-आवश्यक नियुक्ति-हरिभद्र, आगमोदय समिति, बम्बई ।
- १९-इष्टोपदेश-पूज्यपाद, प्रकाशक, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात ।
- २०-उत्तराध्ययनसूत्रम्-अनुवादक आत्माराम जी महाराज, जैनशास्त्र-माला कार्यालय, लाहौर ।
- २१-उपासकाध्ययन-सोमदेवसूरि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी ।
- २२-ऐतरेयोपनिषद्- गीता प्रेस, गोरखपुर ।

२२-ऐतरेय ब्राह्मण-

२३-औपपातिक सूत्रम्-

२४-ऋग्वेद संहिता-प्रकाशक स्वाध्याय मण्डल, औष, सतारा ।

२५-कसायपाहुड-

२६-कठोपनिषद्-

गीता प्रेस, गोरखपुर ।

२७-गुणभद्र श्रावकाचार-

२८-गोम्मटसार (जीवकाण्ड)--नेमिचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई ।

२९-घेरण्डसंहिता-

३०-चारित्रसार-चामुण्डरायविरचित, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला प्रकाशन, बम्बई ।

३१-छह्ढाभा-दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ ।

३२-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १,-क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी सन् १९७०

३३-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग २-क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी सन् १९७१

३४-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ३-क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी सन् १९७२

३५-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ४-क्षु० जिनेन्द्र वर्णी भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी सन् १९७२

३६-तत्त्वार्थराजवार्तिक-अकलङ्कदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५७ ।

३७-तत्त्वार्थ सूत्र-उमास्वाति, प्रकाशक गणेश प्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला भदैनो, काशी, सम्बत् २४७६

३८-तत्त्वानुशासन-रामसेनाचार्य, प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् १९६३

३९-तैत्तिरीयोपनिषद्-

गीता प्रेस, गोरखपुर ।

४०-तिलोपपण्त्ती-आचार्य यति वृषभ, प्रकाशक जीवराज जैन ग्रन्थ-माला, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर ।

४१-तन्त्रालोक-अभिनव गुप्त, महाराज जम्मू एण्ड कश्मीर स्टेट श्रीनगर ।

(२५५)

- ४२-दर्शन और चिन्तन-पं० सुखलाल संघवी, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, सन् १९५७ ।
- ४३-दशवैकालिक सूत्र-श्री शय्यशं भवसूरि, अगरचन्द्र मैरोदान सेठिया जैन संस्था, बीकानेर ।
- ४४-दीर्घनिकाय-सम्पादक जगदीश कश्यप एवं राहुल सांस्कृत्यायन, महा-बोधि सभा, सारनाथ ।
- ४५-द्वात्रिंशद्वात्रिंशिका-यशोविजय, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर ।
- ४७-धम्मपद-धर्मरक्षित, मास्टर खेलाडीलाल एण्ड सन्स, बनारस ।
- ४८-ध्यानबिन्दूपनिषद्- पाण्डुरंग जावजी, बम्बई ।
- ४९-ध्यान शतक एवं ध्यान स्तव-वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली ।
- ५०-ध्यान सम्प्रदाय-
- ५१-नमस्कार स्वाध्याय-जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई ।
- ५२-न्याय दर्शन- भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी ।
- ५३-नियमसार-कुन्दकुन्दाचार्य, साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, ए-४ बापूनगर, जयपुर सन् १९८४
- ५४-नाथसम्प्रदाय-हजारी प्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी ।
- ५५-पंचसंग्रह-प्रकाशक मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर, डमोई, गुजरात ।
- ५६-पंचास्तिकाय-कुन्दकुन्दाचार्य, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई ।
- ५७-परमात्म प्रकाश-योगीन्दु देव, प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई ।
- ५८-पाहुड़दोहा-रामसिंह मुनि, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी ।
- ५९-प्रज्ञापना सूत्र-मलयगिरि, अनुवादक भगवानदास हर्षचन्द्र, शारदा भवन, जैन सोसाइटी, अहमदाबाद ।
- ६०-पाराशर स्मृति- संस्कृति प्रकाशन, बरेली ।
- ६१-पद्मपुराण- रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी ।
- ६२-प्रत्याभिज्ञाहृदयम्-क्षेमराज, ऑर्किओलाजिकल एण्ड रिसर्च डिपार्ट-मेन्ट, श्रीनगर ।
- ६३-पद्मनन्द पंचविंशतिका-जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर ।
- ६४-प्रवचन सार-कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई ।
- ६५-प्रमेयरत्नमाला-अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला समिति, बम्बई ।
- ६६-प्रशमरति-प्रकरण-उमास्वाति, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई ।

- ६७-पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय-वरमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, गुजरात ।
६८-जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन-डॉ. अर्हंददास बडोबा दिगे,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई.टी.आई.रोड, वाराणसी-५
- ६९-बारसअणुवेक्खा-
- ७०-बोधिचर्यावतार-शान्तिदेव, बुद्ध विहार, लखनऊ, सन् १९५५
- ७१-बृहदारण्यक उपनिषद्-प्रकाशक पाण्डुरंग जावजी, बम्बई ।
- ७२-बौद्ध दर्शन-बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक शारदा मन्दिर, काशी ।
- ७३-श्रीमद् भगवद्गीता- गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- ७४-भगवती सूत्र-घासीलाल जी महाराज, अ. भा. श्वे. संस्थान, जैन
शास्त्रोद्धार ममिति, राजकोट, सन् १९६१
- ७५-भगवतो आराधना-आ. शिवायं, सेठ लालचन्द्र हीराचन्द्र, जैन
संस्कृति संरक्षक, शोलापुर ।
- ७६-भारतीय संस्कृति और साधना-गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्र-
भाषा परिषद्, पटना ।
- ७७-श्री मद् भागवत पुराण- गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- ७८-मनोनुशासन-आ. तुलसी, जैन भारती, वर्ष २, अंक २, जैन श्वेताम्बर
तेरापन्थी, महासभा, कलकत्ता ।
- ८०-महाभारत- गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- ८१-महाप्रत्याख्यान-
- ८२-मिलिन्द प्रश्न-नागसेन, बर्मी धर्मशाला, सारनाथ, वाराणसी ।
- ८३-मनुस्मृति-जवाहर बुक डिपो, गुजरी बाजार, मेरठ ।
- ८४-मुण्डकोपनिषद्- पाण्डुरंग जावजी, बम्बई ।
- ८५-मूलाचार-बट्टकैर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन माला, बम्बई ।
- ८६-मूलाराधना-शिवायं, जैन पब्लिकेशन, कारंजा ।
- ८७-मूलाराधना प्रदीप-सकल कीर्ति, दिगम्बर जैन समाज, मारौठ,
राजस्थान ।
- ८८-यशस्तिलकचम्पू-सोमदेव सूरि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।
- ८९-याज्ञवल्क्य स्मृति- संस्कृति संस्थान, बरेली ।
- ९०-योगकुण्डल्योपनिषद्-पाण्डुरंग जावजी प्रकाशन, बम्बई ।
- ९१-योग चूड़ामणि उपनिषद्-प्रकाशक पाण्डुरंग जावजी, बम्बई ।

- ६२-योगशिखोपनिषद्-प्रकाशक पाण्डुरंग जावजी, बम्बई ।
६३-योगदर्शन- पतञ्जलि, गीता प्रेस गोरखपुर ।
६४-योगदृष्टि समुच्चय-हरिभद्र, जैन ग्रन्थ प्रसारक सभा, अह-
मदाबाद ।
६५-योगसार-योगीन्दु देव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल प्रकाशन, बम्बई ।
६६-योगबिन्दु-हरिभद्र सूरि, जैन ग्रन्थ प्रसारक सभा, अहमदाबाद ।
६७-योगप्रदीप-मंगल विजय, हेमचन्द्र सावचन्द्रशाह, कलकत्ता ।
६८-योगविशिका-हरिभद्र सूरि, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर ।
६९-योगशास्त्र-हेमचन्द्र, जैन साहित्य प्रकाशन, अहमदाबाद ।
१००-योगवाशिष्ठ- इयाम काशी प्रेस, मथुरा ।
१०१-रत्नकरण्डश्रावकाचार-समन्त भद्र, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थ-
माला, बम्बई ।
१०२-वसुनन्दि श्रावकाचार-भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी ।
१०३-वशिष्ठ स्मृति- संस्कृति संस्थान, बरेली ।
१०४-वायुपुराण-संस्कृति संस्थान, खाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली ।
१०५-बिष्णु पुराण-संस्कृति संस्थान, खाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली ।
१०६-विसुद्धिमग्न-बुद्धघोष, भारतीय विद्या भवन ।
१०७-विद्यानुशासन-
१०८-वैशेषिक दर्शन-कणाद, सम्पादक शंकरदत्त शर्मा, मुरादाबाद ।
१०९-वृहद्द्रव्यसंग्रह-प्र. गणेशवर्णी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, धनबाद,
बिहार ।
११०-वृहदारण्योपनिषद्-प्रकाशक पाण्डुरंग जावजी, बम्बई ।
१११-वृहदनयचक्र-
११२-वैदिक धर्म एवं दर्शन-प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, बगलो
रोड, जवाहरनगर, दिल्ली ।
११३-वैष्णव, शैव एवं अन्य धार्मिक मत-भारतीय विद्या प्रकाशन,
वाराणसी ।
११४-शान्तसुधारस-प्रकाशक भगवानदास म. मेहता, भावनगर ।
११५-शास्त्रसार समुच्चय-राजेन्द्र कुमार जैन, ११ कीलिंग रोड,
दिल्ली ।

(२५८)

- ११६-श्वेताश्वतरोपनिषद्- गीता प्रेस, गोरखपुर ।
११७-शिव पुराण-कल्याण अंक वर्ष ३६, अंक १, गीता प्रेस,
गोरखपुर ।
११८-शैव दर्शन तत्त्व-आचार्य भारतीय, प्रकाशक, निर्मोही बन्धु
प्रकाशन, सी-७४७, लखनऊ ।
११९-षट्खण्डागम-धवला, सम्पादक डा० हीरालाल जैन, शि० ल० जैन
साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती ।
१२०-समवायांग-स्थानाङ्ग सूत्र-
गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद ।
१२१-समयसार-कुन्दकुन्दाचार्य, गणेश प्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला,
१/१२ डुमराँव बाग, अस्सी, वाराणसी ।
१२२-समाधितन्त्र-पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ।
१२३-स्कन्ध पुराण-राजा विनेन्द्र स्ट्रीट, कलकत्ता ।
१२४-सर्वार्थसिद्धि-पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी ।
१२५-सर्वदर्शन संग्रह-माधवाचार्य, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी ।
१२६-स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-स्वामी कार्तिकेय, श्री वीतराग विज्ञान
प्रकाशिनी ग्रन्थमाला, ठि. रूपचन्द्र सा०
जैन मार्ग, खण्डवा, म. प्र. ।
१२७-संयुक्त निकाय-जगदीश कश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ ।
१२८-सिद्ध सिद्धान्त पद्धति-
१२९-सूत्रकृताङ्ग- मोतीलाल प्रकाशन, पूना ।
१३०-हठयोग प्रदीपिका-श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस प्रकाशन, मुम्बई, सन्
१९६२ ।
१३१-हरिवंशपुराण-जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, सन्
१९६२ ।
१३२-हारीत स्मृति-संस्कृति संस्थान, बरेली ।
१३३-त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्- गीता प्रेस, गोरखपुर ।
१३४-ज्ञानसार-पद्मसिंह, मू.कि.कापाडिया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
१३५-ज्ञानार्णव-शुभचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, गुजरात ।



डॉ० सीमा रानी शर्मा

- जन्म — २७ नवम्बर १९६६ ई.
स्थान — बिजनौर
शिक्षा — एम.ए. (संस्कृत), पी-एच.डी.
भाषा ज्ञान — हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी
रचना — जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप :
एक समीक्षात्मक अध्ययन
अभिरूचि — विद्याध्ययन, संगीत एवम् समाज सेवा
स्थायी पता — द्वारा श्रीमती मनोरमा शर्मा
स्टेट बैंक कॉलोनी रोड,
बी-१४ नई बस्ती, बिजनौर, उ.प्र.